श्रीमदीश्वरकृष्ण-विरचिताः

सांख्यकारिकाः

सम्पादकोऽनुवादकश्च

आचार्य-जगन्नाथशास्त्री, एम० ए०

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली ☐ वाराणसी ☐ पटना

श्रीमदीश्वरकृष्ण-विरचिताः

सांख्यकारिकाः

[अन्वय-अर्थ-गौडपादभाष्य-भाष्यानुवाद-टिप्पणी-विशदभूमिकासहिताः]

सम्पादकोऽनुवादकश्च

आचार्य जगन्नाथ शास्त्री, एम० ए०

मो ती ला ल ब ना र सी दा स

दिल्ली वाराणसी पटना

© मोतीलाल बनारसीदास
मुख्य कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७
शाखाएँ : १. चौक, वाराणसी-१ (उ० प्र०)
२. अशोक राजपथ, पटना-४ (बिहार)

चतुर्थ संस्करण : वाराणसी १९७५
पुनर्मुद्रण : दिल्ली, १९८३
मूल्य : रु० ७

श्री नरेन्द्र प्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-७ द्वारा प्रकाशित तथा श्री शान्तिलाल जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस, ए-४५, फेज-१, नारायणा, नई दिल्ली-२८ द्वारा मुद्रित ।

विषयानुक्रमणी

आमुख

दर्शनका स्वरूप :

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" [आत्मा का दर्शन (साक्षात्कार) करना चाहिये] यह श्रुति का निर्देश है। संसार के साथ ही सुख-दुख भी उत्पन्न होते हैं। क्योंकि संसार त्रिगुणात्मिका प्रकृति से उत्पन्न होता है और सुख दुःख मोह ये तीन उन गुणों के धर्म हैं। संसार का प्रत्येक जीव स्वभावतः सुख की प्राप्ति और दुःख से निवृत्ति चाहता है। दुःख की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति आत्मसाक्षात्कार से ही हो सकती हैं। अतः श्रुति ने उपर्युक्त आदेश दिया है। इस आत्म-नाक्षात्कार के लिए ज्ञानी महर्षियों ने जो साधन अपनाये और उनसे उन्हें जो अनुभव हुआ उसी को उन्होंने लोकोपकारार्थ अपनी शिष्यपरम्परा में फैलाया। जिस ऋषि ने जो मार्ग दर्शाया उसके नाम से वह दर्शन प्रसिद्ध हो गया।

दर्शनोंकी गणना :

दर्शन कौन-कौन हैं या उनकी संख्या कितनी है ? इस प्रश्न पर विभिन्न मत पाये जाते हैं[1] यद्यपि पंचशिखाचार्य का कथन है—

"एकमेव दर्शनम्, सांख्यमेव दर्शनम्;' एक ही दर्शन है और वह सांख्यदर्शन है। किन्तु भिन्न-भिन्न आचार्यों के अनुसार यह संख्या ३६ तक पहुंच चुकी है।

'षड्दर्शन' शब्द लोक में पर्याप्त प्रचलित है। ये ६ दर्शन भी कौन-कौन से हैं यह निश्चय नहीं हो सका। कुछ लोग ६ आस्तिक दर्शनों (न्याय-वैशेषिक सांख्य-योग-मीमांसा और वेदान्त) को ही दर्शन की संज्ञा देते हैं। कुछ ६ नास्तिक दर्शनों (चार्वाक-जैन और सौत्रान्त्रिक, वैभाषिक, योगाचार, माध्यमिक ये ४ बौद्ध) को भी। इस विषय में कुछ लोगों का कथन है कि दर्शन ६

१—देखिये सांख्यकारिका पर जनार्दनशास्त्री पाण्डेय की भूमिका में दर्शनों की संख्या।

प्रकार के हैं—१. नास्तिक, २. प्राकृतिक, ३. प्रपन्नाचार्य, ४. उपासक, ५. साम्प्रदायिक और ६. तार्किक। इनमें पत्येक के ६।६ भेद हैं। इस प्रकार ६ संख्या को लेकर पड्दर्शन शब्द प्रचलित हो गया है[1]।

जो भी हो प्रक्रिया के अनुसार संख्या में भेद होने पर भी लक्ष्य सबका एक ही है—आत्म-साक्षात्कार।

सांख्य दर्शन

निरुक्ति :

यह तो निर्विवाद है कि सांख्य शब्द संख्या को लेकर बना है। किन्तु इस संख्या शब्द के अर्थ को लेकर विवाद है। कुछ लोगों के विचार से पचीस तत्त्वों की संख्या का विचार जिसमें किया गया है उस शास्त्रको सांख्य कहा जाता है।[2] एक नवीन विचार और भी देखने को मिला हैं कि सांख्य का पुरुष अक्षर पुरुष है, इसके दो भाग हैं पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। प्रत्येक भाग में ४३२०००००० बीज पुरुष होते हैं। इस प्रकार ८६४०००००० संख्यात्मक पुरुषों के ज्ञान को सांख्य कहते हैं।[3] एक विचार यह भी है कि संख्य नाम पुरुष का है उस पुरुष को मानने वाले सांख्य कहलाते हैं।[4] इसके वाद एक मत और है जो सम् + ख्याञ् (चक्षिङ्) से 'सम्यक् ख्यानम्' विग्रह द्वारा सांख्य की निरुक्ति करता है। इनका अभिप्राय है कि

१—देखिये म. म. पं० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी का प्रमेयपारिजात पृष्ठ २४

२—पंचविशतितत्त्वानां विचारः सांख्यम्, तमधिकृत्य कृतोग्रंथः सांख्यमुच्यते

—रामतीर्थ भट्टाचार्य

"संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते" अहिर्बुध्न्य संहिता

"प्रसंख्यानाय तत्त्वानां समन्तादातमदर्शने"—भा० ३।१४।२

"सांख्यं संख्यात्मकत्वाच्च कपिलादिभिरुच्यते"—म० पु०

"सांख्यैः संख्यातसंख्येयैः—चरकसंहिता

३—देखिये श्री हरिशंकर जोशी 'सांख्ययोग दर्शन का जीर्णोद्धार' पृष्ठ १३

४—'संखमिति पुरुषनिमित्तेयं संज्ञा, संखस्य इमे सांख्याः'—पड्दर्शनसमुच्चय की टीका में हरिभद्रसूरि।

जीव अविद्या से आच्छन्न रहता है, यही उसका बन्धन है, जिसके कारण उसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता और स्वरूप का ज्ञान न होने से दुःख-निवृत्ति नहीं होती। 'त्रिगुणात्मिका प्रकृति (अविद्या) पुरुष से भिन्न है' यह जीव को कराया जाने वाला ज्ञान ही 'संख्या' कहलाता है, जिसे विवेकख्याति या प्रकृति-पुरुषविवेक मी कहते हैं। इसी को महाभारत के शब्दों में—

दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।
कञ्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम्॥

कहा गया है। इसी ज्ञानवाची संख्या की प्रधानता के कारण इसे सांख्य कहा गया है, क्योंकि संख्या अर्थात् विवेक की प्राप्ति इसी सांख्यदर्शन से होती है अमरकोश के 'चर्चा संख्या विचारणा' और 'संख्यावान् पंडितः कविः' इन पर्यायों से भी उक्त अर्थ की पुष्टि होती है।

सांख्य की व्यापकता :

सांख्य दर्शन जितने व्यापक रूप से प्राचीन भारतीय वाङ्मय में छाया हुआ है उतना अन्य कोई दर्शन नहीं। वेदों, उपनिषदों, पुराणों, रामायण, महाभारत, आयुर्वेद आदि में सर्वत्र सांख्य के सिद्धान्त उपलब्ध हैं। इस दर्शन की व्यापकता एवं मान्यता का ज्वलन्त उदाहरण है कि दैनिक नित्यक्रिया में भी सांख्य के प्रवर्तक आचार्यों को तर्पण दिया जाता है।[1]

प्रतिपाद्य विषय

पच्चीस तत्त्व :

सांख्यदर्शन में जिन २५ तत्त्वों का विवेचन किया गया है वे है—प्रकृति, महत्, अहङ्कार, ५ तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धतन्मात्रा), ११ इन्द्रियाँ (५ ज्ञानेन्द्रियाँ—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण ५ कर्मेन्द्रियाँ वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, १ उभयेन्द्रिय—मन) और ५ महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) और २५ वाँ तत्त्व है पुरुष।

१—'कपिलस्तृप्यताम्, आसुरिस्तृप्यताम्, पंचशिखस्तृप्यताम्, बोढुस्तृप्यताम्
देखिये तर्पणविधि।

प्रकृति-विकृतिभाव :

इनमें एक तत्त्व प्रकृति केवल प्रकृति है जो अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करती है स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती। सात तत्त्व (महत्, अहङ्कार और ५ तन्मात्रा) प्रकृति-विकृति हैं अर्थात् महत् अहङ्कार को उत्पन्न करता है अतः उसकी प्रकृति है और प्रकृति से स्वयं उत्पन्न होता है अतः उसकी विकृति है। इसी प्रकार अहङ्कार तन्मात्राओं तथा इन्द्रियों को उत्पन्न करता है अतः उनकी प्रकृति है और स्वयं महत् से उत्पन्न होने के कारण उसकी विकृति है। ५ तन्मात्राओं से ५ महाभूत उत्पन्न होते हैं। अतः वे महाभूतों की प्रकृति हैं और स्वयं अहङ्कार से उत्पन्न होने से उसकी विकृति हैं। अतः ये सातों प्रकृति भी हैं और विकृति भी। सोलह तत्त्व (११ इन्द्रियाँ और ५ महा-भूत) ये केवल विकृति हैं अर्थात् ये ६ अहङ्कार और तन्मात्राओं से उत्पन्न तो होते हैं, स्वयं किसी को उत्पन्न नहीं करते। एक तत्त्व पुरुष न किसी को उत्पन्न करता है और न किसी से उत्पन्न होता है अतः वह न प्रकृति है न विकृति।[1]

प्रमाण :

प्रमेय की सिद्धि प्रमाणों से ही होती है अतः सांख्यदर्शन में दृष्ट (प्रत्यक्ष), अनुमान और आप्तवचन (शब्द) ये तीन प्रमाण माने गये हैं। शेष दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत सभी प्रमाणों का ये इन्हीं में अन्तर्भाव कर लेते हैं।[2]

सामान्यतः पदार्थों की प्रतीति प्रत्यक्ष प्रमाण से होती है, जो पदार्थ इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं हैं उनकी प्रतीति अनुमान से होती है, और जो सर्वथा परोक्ष हैं उनके लिए शब्द प्रमाण साधक है।[3]

कार्य-कारण भाव :

प्रकृति कारण है और महदादि सब उसके कार्य हैं। यद्यपि प्रकृति इतनी सूक्ष्म है कि वह इन्द्रियों से गोचर नहीं हो सकती, किन्तु महदादि कार्य को

१—देखिये कारिका ३. २—देखिये कारिका ४–५. ३—देखिये कारिका ६.

देखकर उसकी सत्ता प्रमाणित हो जाती है। क्योंकि अत्यन्त दूर होना, अत्यन्त समीप होना आदि ऐसे कारण हैं जिनसे महदादि कार्यों द्वारा प्रकृति की उपलब्धि माननी पड़ती है।[1]

परिणामवाद :

कार्य-कारण दोनों अभिन्न हैं, अर्थात् कारण की ही एक अवस्थाविशेष कार्य होता है। जगत् के प्रत्येक पदार्थ में प्रतिक्षण परिणाम होता रहता है अर्थात् प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण बदलती रहती है। जो वस्तु चिरकाल तक एकसी दीखती है उसमें भी परिणाम होता रहता है। अन्तर इतना ही है कि जब तेक वह उसी रूप में दीखती है तब तक सदृश परिणाम होता है और जब उसमें अन्तर प्रतीत होने लगता है तब विसदृश परिणाम कहलाता है। जैसे दूध जब तक दूध सा लगता है तब तक सदृश परिणाम है। जब दही होने लगता है तब विसदृश परिणाम होता है। किन्तु दूध की ही बदली हुई अवस्था-विशेष दही है। यही परिणामवाद है और इसी को "प्रकृतिविरूपं सरूपं च" कहकर कारिका में व्यक्त किया है।

सत्कार्यवाद :

ऊपर बता चुके हैं कि कारण की अवस्था-विशेष ही कार्य है इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्य अपने कारण में पहिले से विद्यमान रहता है, अन्तर यही है कि कारणावस्था में वह अव्यक्त है और कार्यावस्था में व्यक्त हो जाता है। जैसे तिलों में तेल पहिले से विद्यमान रहता है किन्तु अव्यक्त अवस्था में, पेरने के बाद वह उनसे पृथक् कार्य रूप में व्यक्त हो जाता है। चूँकि कारण तो सदा रहता है (सत् है) इसलिये कार्य भी 'सत्' है। इसीलिये सांख्य का सिद्धान्त है—"नासत आत्मलाभो न सत आत्महानिः" जो नहीं है उसे "है" नहीं कहा जा सकता और जो है उसका अभाव नहीं हो सकता। कार्य सत् है इसकी स्थापना में ५ हेतु दिये गये हैं।[2]

गुण :

सत्त्व, रजस्, तमस् ये तीन गुण हैं। प्रीत्यात्मक, लघु और प्रकाशक सत्त्वगुण

१—देखिये कारिका ७८. २—देखिये कारिका ९।

होता है। दुःखात्मक, चञ्चल और कार्य में प्रवर्तक रजोगुण होता है। मोहात्मक, गुरु और आवरक तमोगुण होता है। जैसे रूई, तेल और अग्नि ये तीनों परस्पर विरोधी पदार्थ हैं, फिर भी व्यवस्थित रूप से दीपक में तीनों एक साथ मिलकर प्राणियों के लिये उपकारक हो जाते हैं, ऐसे ही सत्त्व, रजस् और तमस् भी यद्यपि परस्पर विरुद्ध धर्मोंवाले हैं फिर भी एकत्र होकर ये पुरुष के लिये उपकारक होते हैं।[1]

प्रकृति :

उपर्युक्त तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। इन गुणों में जब चेतन के संयोग से वैषम्य होने लगता है तब सृष्टि के पूर्व यह सारा कार्य जगत् इसी में अव्यक्त रूप से रहता है, इसलिये इसे अव्यक्त कहते हैं। इसीसे सर्ग का प्रारम्भ होता है अतः इसे मूलप्रकृति या प्रधान कहते हैं। यद्यपि यह जड़ है तथापि पुरुष के भोग-अपवर्ग के लिये यह बिना किसी स्वार्थ के प्रवृत्त होती है।

पुरुष :

जैसे बिछी हुई शय्या जड़ है। स्वयं अपने लिये उसका कोई उपयोग नहीं होता। उसे देखकर अनुमान होता है कि कोई (इस शय्या से भिन्न) व्यक्ति है जो इसका उपयोग करेगा। इसी प्रकार प्रकृति भी जड़ है, उसका स्वयं अपने लिये कोई उपयोग नहीं। अतः इस जड़ प्रकृति (गुणसमूह) का उपभोग करने के लिये किसी चेतन पुरुष की कल्पना आवश्यक है।

यह पुरुष चेतन, द्रष्टा (साक्षी मात्र) भोक्ता एकरस अर्थात् अपरिणामी और असंहत है, जबकि गुण अचेतन, दृश्य, भोग्य, परिणामी और संहत हैं।[2] ये पुरुष बहुत हैं।[3]

१—देखिये कारिका १२। २—देखिये कारिका ११।

३—यहाँ पुरुष जीवका वाचक है और प्रत्येक सूक्ष्म शरीर के लिये एक भोक्ता पुरुष माना गया है। देखिये कारिका १८। इस सम्बन्ध में आलोचना के लिए देखिये "भारतीय दर्शन" ले० डॉ० उमेश मिश्र, पृष्ठ ३०४।

महत् :

प्रकृति सर्वप्रथम अपने सात्त्विक अंश से जिस तत्त्वको उत्पन्न करती है वह महत् या बुद्धितत्त्व कहलाता है। सत्त्व-प्रधान होने से इसमें लघुत्व एवं प्रकाश रहते हैं। यह अध्यवसायात्मक है। अर्थात् निश्चय करना इसका स्वरूप है। पुरुष के भोग और अपवर्ग का मुख्य साधन यह बुद्धि ही है। प्रकृति और पुरुष के सूक्ष्म भेद की अभिव्यक्ति इसीसे होती है। इसके दो प्रकार के धर्म हैं— सात्त्विक और तामस। सात्त्विक—धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य; तामस– अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य। आठ धर्म ही भाव कहलाते हैं। जिनमें ७ से तो पुरुष का बन्ध होता है और १ (ज्ञान) से मोक्ष।[1]

अहङ्कार :

प्रतिक्षण परिणाम होने के कारण महत् में स्थित रजोगुण से अहङ्कार उत्पन्न होता है। 'मैं और मेरा' यह अभिमान ही अहङ्कार है। इसके तीन रूप होते हैं। १. वैकृत—जिसमें सात्त्विक अंश अधिक होता है इससे ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। २. भूतादि—इसमें तमोगुण का प्राधान्य होता है और इससे पञ्चतन्मात्रा उत्पन्न होती हैं। ३. तैजस—इसमें रजोगुण का प्राबल्य होता है और यह वैकृत तथा भूतादि के कार्यों में सहायक होता है।

तन्मात्रा और इन्द्रियाँ :

अहङ्कार में परिणाम होकर उसके तामस अंश से जो तत्त्व उत्पन्न होते हैं वे ५ तन्मात्रा हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। सात्त्विक अंश से जो तत्त्व उत्पन्न होते हैं वे ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। इनमें श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये ५ ज्ञानेन्द्रिय; वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये ५ कर्मेन्द्रिय तथा मन उभयेन्द्रिय (ज्ञान-कर्म रूप) कहलाता है।

पंचमहाभूत :

पंचतन्मात्राओं में परिणाम होने से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन तन्मात्राओं से क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी नामक महाभूत उत्पन्न होते हैं। यद्यपि प्रत्येक महाभूत में पाँचों

१—देखिये कारिका २३.

तन्मात्राओं के अश विद्यमान रहते हैं किन्तु अधिक अंश जिसका रहता है उससे उसकी उत्पत्ति मानी जाती है।[१]

करण :

५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार ये १३ करण कहलाते हैं। इनमें भी मन, बुद्धि और अहंकार ये तीन अन्तःकरण हैं जो प्रधान (द्वार) माने जाते हैं, शेष १० इन्द्रिताँ वाह्यकरण हैं जो गौण या अप्रधान (द्वार) माने जाते हैं। अन्तःकरणों में भी बुद्धि प्रधान मानी जाती है। क्योंकि बाह्यकरण विषयों का आलोडन करके मन को सौंपते हैं, मन संकल्प के साथ उन्हें अहंकार को सौंपता है, अहंकार बुद्धि को सौंप देता है और बुद्धि ही उनका निश्चय करके पुरुष के समक्ष उपस्थित करती है। बृद्धि ही प्रकृति-पुरुष की पृथक्ता का विवेक कराती है और वही पुरुष के भोग और अपवर्ग का साक्षात् साधन है।[२]

सूक्ष्मशरीर :

तीन अन्तःकरण (बुद्धि, अहंकार और मन), दस वाह्यकरण (५ ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ) तथा ५ तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध) इन १८ का समुदाय सूक्ष्म या लिंग शरीर कहलाता है। सांख्य का सिद्धान्त है कि सृष्टि की आदि में प्रत्येक पुरुष के लिए १।१ सूक्ष्म शरीर होता है। यह पांचभौतिक स्थूल शरीर के आश्रित रहता है किन्तु स्थूल शरीर का नाश नहीं होता प्रत्युत यह उस स्थूल शरीर की वासनाओं से वासित हुआ दूसरे स्थूल शरीर को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार यह प्रलयपर्यन्त स्थायी रहता है। प्रलय काल में प्रकृति में लीन होकर पुनः नवीन सृष्टि में नये रूप में उत्पन्न होता है।[३]

प्रकृति-पुरूष संयोग से सृष्टि :

किसी बगीचे में एक लूला और एक अन्धा अलग-अलग पड़े रहें तो दोनों बेकार हैं। लूला फलों को देखता है पर ऊँचाई से तोड़ नहीं सकता, अन्धे को

१—इसके लिये देखिये पंचीकरण प्रक्रिया. २—देखिये कारिका ३२ से ३७.

३—दे० कारिका ४०.

सूझता ही नहीं। किन्तु अन्धा लूले को कन्धे पर चढ़ा ले और उसके बताये मार्ग से पेड़ के पास ले चले तो वे दोनों फल खा सकते हैं। ठीक यही स्थिति प्रकृति और पुरुष की है। प्रकृति में क्रियाशक्ति तो है पर चेतनता नहीं, अतः वह अन्धे के समान हैं जो चल तो सकता है पर देखता नहीं। पुरुष चेतन तो है पर उसमें क्रियाशक्ति नहीं, अतः वह लूले जैसा है जो देखता तो है चल नहीं सकता। परन्तु दोनों का संयोग यदि हो जाता है तो कार्य सिद्ध हो जाता है। इसे संक्षेप में यों कह सकते हैं कि पुरुष की चैतन्य शक्ति तथा प्रकृति की क्रिया-शक्ति, ये दोनों एक-दूसरे की अपेक्षा रखती हैं इसी से प्रकृति पुरुष का संयोग होता है और उससे सर्ग का निर्माण[1]।

सर्ग (सृष्टि) के दो प्रकार :

धर्म-अधर्म आदि (भाव) पहिले कहे जा चुके हैं, जो बुद्धि के परिणाम हैं और विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि ...सद्धि रूप में परिणत होते हैं। यही भावसर्ग, प्रत्ययसर्ग या बौद्धिक सृष्टि कही जाती है। इन धर्माधर्मादि भावों की स्थिति या भाव सर्ग की स्थिति सूक्ष्म और स्थूल शरीरों से ही साध्य है, अतः दूसरा लिंग (सूक्ष्म) और स्थूल देहमय लिङ्ग सर्ग कहलाता है जिसे सूक्ष्म सग या तन्मात्रसर्ग भी कहते हैं[2] जो चौदह भुवनों में व्याप्त है और भौतिक सर्ग कहलाता है।

प्रत्ययसर्ग :

विपर्यय अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि रूप बुद्धि के परिणामों से हुए इस प्रत्यय सर्ग के ५० प्रकार हैं। ५ विपर्यय + २८ अशक्तियाँ + ९ तुष्टि + ८ सिद्धि।[3]

भौतिक सर्ग (लिङ्गसर्ग) :

इस ब्रह्माण्ड के मध्य में भूलोक है। भुव, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य, ये ६ लोक इस भूलोक से ऊपर हैं तथा अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल ये सात लोक इस भूलोक से नीचे हैं। भूलोक और स्वर्लोक के मध्य का अन्तरिक्ष ही भुवर्लोक है। इसी को नक्षत्रलोक भी कहते हैं। सूर्य, चन्द्र आदि जितने नक्षत्र दिखाई देते हैं वे सब इसी लोक में रहते हैं। आज जिस विज्ञान को उन्नति के शिखर पर पहुँचा कहा जाता है उसकी पहुँच

१--देखिये कारिका २१. २—देखिये कारिका ५२.

३—इनके विशेष विवरण देखिये कारिका ४७ से ५१.

इसी भुवर्लोक में पृथ्वी के निकटतम ग्रहों पर करने के लिए एड़ी चोटी का पसीना एक किया जा रहा है, जब कि प्राचीन भारत में भुवर्लोक से ऊपर स्वर्लोक तक तो आसानी से आवागमन होता था। कितने ही राजा स्वर्ग में इन्द्र की सहायता के लिए जाते थे। योगी लोग तो अपने योगबल से सत्य-लोक तक पहुँचते थे। ५३वीं कारिका में जो आठ प्रकार की देवयोनियाँ कही हैं वे इन्हीं लोकों में रहती हैं। योगसूत्र के व्यासभाष्य में इसका वर्णन इस प्रकार है—

"ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजाः"॥

अर्थात् सत्यलोक, तपोलोक और जनलोक ये तीन ब्रह्मलोक कहे जाते हैं। इनमें ब्रह्मयोनि के लोग वास करते हैं। उनके विभाग इस प्रकार हैं—सत्यलोक में चार देवयोनियाँ रहती हैं—अच्युत, शुद्धनिवास, सत्याभ और संज्ञासंज्ञि। तपोलोक में तीन देवयोनियाँ हैं—अभास्वर, महाभास्वर और सत्यमहाभास्वर। जनलोक में भी चार देवयोनियाँ हैं—ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक और अमर। महर्लोक में प्राजापत्य सृष्टि के लोग रहते हैं। इनके ५ प्रकार हैं—कुमुद, ऋभु, प्रतर्दन, अज्जनाभ और प्रचिताभ। स्वर्लोक में ऐन्द्र सर्ग माना गया है। इनके ६ भेद हैं—त्रिदश, अग्निष्वात्त, तुषित, याम्य, परिनिर्मित-वशवर्ती तथा अपरिनिर्मितवर्ती। सौम्य या पैत्र सर्ग के लोग भी इसी स्वर्लोक में रहते हैं। इनके अर्यमा आदि कई भेद हैं किन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अवान्तर भेद रहते हुए भी जैसे मनुष्य एक ही योनि मानी जाती है ऐसे ही पितर भी एक ही योनि है। गन्धर्व योनि के लोग पर्वतों गुफाओं में वास करते हैं। विद्याधर, अप्सरा, किन्नर आदि इसी के अन्तर्गत हैं। यक्षयोनि का वास समुद्र या वरुण लोक में माना गया है। राक्षस और पैशाच योनियाँ शेष अतलादि सात लोकों में रहती हैं। इनमें भूत प्रेत, पिशाच असुर ब्रह्मराक्षस, वेताल, कूष्माण्ड, विना-यक आदि सभी आते हैं।

यद्यपि देवयोनियों के कई भेद हो सकते हैं किन्तु प्रधानरूप से ८ विभागों में सबका अन्तर्भाव हो जाता है अतः अष्टविकल्पो दैवः कहा गया है। इसी प्रकार ५ प्रकार की तिर्यक् योनि मानी हैं। पशु—खुरवाले प्राणी, जैसे गाय भैंस, हरिण, वराह आदि। मृग—विना खुर के प्राणी, जैसे वानर, भालू,

चीता, खरगोश, आदि। पक्षी—पंखोंवाले। सरीसृप—सरकनेवाले सर्प आदि, स्थावर—वृक्ष, लता आदि। घट-पटादि भी इसी स्थावर के अन्तर्गत आते हैं।

विवेकख्याति :

यद्यपि बुद्धि जड़ है और पुरुष चेतन। किन्तु वह जब अपने को बुद्धि से पृथक् नहीं समझता और बुद्धि के शान्त, घोर या मूढ़ होने पर अपने को शान्त घोर और मूढ़ समझता है, यही पुरुष का अविवेक है यही चिदचिद् ग्रन्थि कहलाती है जो पुरुष के दुःख या संसार का हेतु है। बुद्धि से अपने को पृथक् समझना ही पुरुष का विवेक है जो इस दुःख या संसार से मुक्त होने का उपाय है। बुद्धि से अपने को पृथक् समझ लेनेपर बुद्धि में उसकी आत्म-भावना नहीं रह जाती और वह बुद्धिगत संतापों से सन्तप्त नहीं होता, इसी को विवेक या सदसद्ख्याति कहते हैं।

मुक्ति :

तत्त्व-साक्षात्कार अथवा विवेकख्याति होनेपर पुरुष त्रिगुणात्मिका प्रकृति के बन्धन से मुक्त हो जाता है और प्रकृति को केवल नाट्यमंचपर बैठे दर्शक की तरह देखता है। प्रकृति भी इस मुक्त पुरुष के लिये अपना कार्य बन्द कर देती है यद्यपि मुक्ति होने पर भी प्रकृति से उसका संयोग होता है किन्तु उस संयोग से सर्गोत्पत्ति रूप परिणाम नहीं होता। क्योंकि पुरुष दर्शक की भाँति "मैं इसे देख चुका" यह सोचकर उसकी उपेक्षा कर देता है और प्रकृति भी "मुझे इसने देखलिया" यह सोचकर जैसे उसके समक्ष नहीं जाती इसलिए सर्ग का कोई प्रयोजन नहीं रहता।[1]

मोक्ष :

तत्त्वज्ञान हो जाने पर धर्माधर्मादि अकारण हो जाते हैं और दग्ध बीजों की भाँति उनका फल नहीं होता किन्तु संस्कारवशात् कुलाल के चाक के घूमने की तरह वह शरीर धारण किये रहता है।[2] परन्तु जब उक्त संस्कार समाप्त हो जाता है तब शरीर भी नहीं रह जाता, प्रकृति कृतार्थ हो सदा के लिये उससे निवृत्त हो जाती है और पुरुष कभी नाश न होनेवाले तथा अवश्यंभावी कैवल्य को प्राप्त होता है।[3]

यही संक्षेप में सांख्य दर्शन का रहस्य है।

१—देखिये कारिका ६४. ६५. ६६. २—देखिये कारिका ६७.

३—देखिये कारिका ६८.

सांख्य के आचार्य और कृतियाँ

कपिल :

सांख्यदर्शन के प्रणेता कपिल हैं, जो आदिविद्वान् कहे जाते हैं। 'आदि-विद्वान्' यह विशेषण ही बताता है कि कपिल सांख्य सिद्धान्त के आदि प्रणेता तो हैं ही साथ ही दर्शनशास्त्र के आदि प्रवर्त्तक भी हैं! सत्ययुग में ही प्रजापति कर्दम और मनुपुत्री देवहुति द्वारा प्रादुर्भूत विष्णु के अंशावतार कपिल ने सर्वप्रथम अपनी माता देवहूति को तत्त्वज्ञान का उपदेश देकर संसार में दर्शनशास्त्र का श्रीगणेश किया।[1] यही कारण है कि सांख्य सबसे प्राचीन दर्शन माना जाता है। उपनिषद्, पुराण, स्मृतियाँ, रामायण महाभारत, आयुर्वेद आदि सभी में कपिलप्रणीत इस सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों का समावेश है। भगवान् शङ्कराचार्य ने कपिल को वैदिक ऋषि स्वीकार किया है।[2] श्वेता-श्वतर उपनिषद् में प्रत्यक्ष ही कपिल को सर्वप्रथम ज्ञानी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है—

"ऋषिं प्रसूत कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैबिभर्त्ति जायमानं च पश्येत्"
(श्वेताश्वतर ५।२)

कपिल ने सांख्यशास्त्र का केवल फुटकर उपदेश ही दिया या इस विषय पर किसी ग्रन्थ का भी निर्माण किया, यह आज तक विवाद का ही विषय रहा है। पाश्चात्त्य इतिहास लेखकों ने (जिनकी आन्तरिक भावना को भारतीय साहित्य के प्रति हम शुद्ध तथा न्यायपूर्ण नहीं समझते) तथा उनका अन्धानुसरण करने वाले कुछ भारतीय लेखकों ने भी कपिल को एक काल्पनिक व्यक्ति कहने की धृष्टता की है। किन्तु श्री उदयवीर शास्त्री आदि लेखकों ने प्रबल प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है कि "कपिल एक वास्तविक सांख्य-प्रणेता मुनि थे। वर्तमान सांख्य सूत्र उन्हीं की रचना है और वही षष्टितन्त्र नाम से विख्यात था"।[3] कुछ लोगों ने केवल तत्त्वसमास में संकलित २४ सूत्रों को ही कपिल प्रणीत माना है।

१—देखिये भागवत तृतीयस्कन्ध अ० २१।२४।२५.

२—"या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता"
(ब्रह्मसूत्र २।१।२ का शांकर भाष्य)

३—देखिये सांख्यदर्शन का इतिहास—ले० श्रीउदयवीर शास्त्री

आसुरि :

कपिल के प्रथम शिष्य आसुरि थे, जैसा कि व्यास द्वारा योगभाष्य में दिये उद्धरण,[१] महाभारत[२] तथा सांख्यकारिका[३] से स्पष्ट है। तर्पणविधि में भी कपिल के बाद आसुरि का नाम आता है। इन्होंने इस विषय में कोई रचना की या नहीं यह ज्ञात नहीं।

पंचशिख :

यह आसुरि के शिष्य तथा इस दर्शन के महत्त्वपूर्ण आचार्य हैं। इनका उल्लेख वामन, कूर्म और वायु पुराण तथा तर्पण विधि में प्रतिष्ठित आचार्य के रूप में हुआ हैं। महाभारत में तो इनके वंश और जीवन सम्बन्धी कई घटनाओं का वर्णन मिलता है। यहाँ तक कि इनका पंचशिख नाम पड़ने का कारण तक दिया गया है।[४] ईश्वरकृष्ण ने तो सांख्यकारिका (७०) में स्पष्ट ही कहा है कि पंचशिख ने इस साख्यतंत्र को व्याख्या द्वारा व्यवस्थित रूप दिया।[५] यद्यपि इनकी कोई स्वतन्त्र रचना संप्रति नहीं मिलती किन्तु भारतीय लेखकों का बहुत बड़ा वर्ग षष्टितन्त्र को, जो कि स्वरूपतः उपलब्ध नहीं है, फिर भी उसकी सत्ता को असंभावित नहीं मानता इन्हीं की रचना मानता है।[६] योगसूत्र, व्यासभाष्य, भामती, षड्दर्शनसमुच्चय की टीका तथा सांख्य-

---

१—"आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्यात् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच" (यो. सू. १।२५ पर व्यास-भाष्य में उद्धृत पंचशिखासूत्र)

२—दे० महाभारत शान्तिपर्व अ० २१८।

३—'एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेनुकम्पया प्रददौ' (कारिका ७०)

४—पंच स्रोतसि निष्णातः पाञ्चरात्रविशारदः।
पंचज्ञः पंचकृत् पञ्चगुणः पंचशिखः स्मृतः॥
(म० भा० शा० ३४२–९४)

५—आसुरिरपि पंचशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्॥ ७०॥

६—इस विषय पर भी श्री उदयवीर शास्त्री का यह मत विचारणीय है कि षष्टितंत्र के प्रणेता कपिल है और व्याख्याकार पंचशिख–देखिये 'सांख्य दर्शन का इतिहास' द्वितीय प्रकरण।

कारिका की प्रायः सभी टीकाओं-तत्त्वकौमुदी आदि में पंचशिख के कई उद्धरण दिये गये हैं ।

मध्यवर्ती आचार्य :

पंचशिख से जो शिष्यपरम्परा चली उसमें जैगीषव्य, बोढु, आवाट्य, जनक, वर्ष, वार्षगण्य, व्याडि, भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत, देवल, वाद्धलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर, पतञ्जलि, कौण्डिन्य, गर्ग, यास्क, आर्ष्टिषेण, आदि आचार्यों के नाम सांख्यसूत्र तथा साख्यकारिका की प्राचीन टीकाओं में उपलब्ध होते हैं । काल क्रम से पौर्वापर्य तथा इनकी रचनाओं के विषय में कोई जानकारी हमें नहीं ।

ईश्वरकृष्ण :

प्रस्तुत सांख्यकारिकाओं के रचयिता ईश्वरकृष्ण इस दर्शन के महत्त्व पूर्ण आचार्य हुए हैं । जितनी प्रसिद्धि इनकी कारिकारिओं को मिली उतनी संभवतः ईस दर्शन के किसी अन्य ग्रंथ को नहीं । शंकराचार्य प्रभृति दार्शनिकप्रवरों ने यत्र तत्र इनकी कारिकाओं को ही उद्धृत किया है । इनके काल को भी असन्दिग्ध रूप से निर्णीत नहीं किया जा सकता किन्तु प्रथमशताब्दी ई० के 'अनुयोग द्वार सूत्र' आदि जैन ग्रंथों से यह प्रमाणित है कि उस समय इस ग्रंथ पर टीकाएँ हो चुकी थीं । अतः इनको ईसा से कम से कम ३०० वर्ष पूर्व तो माना ही जा सकता है ।

परवर्ती आचार्य :

ईश्वर कृष्ण के अनन्तर जिन आचार्यों ने सांख्यदर्शन पर आधिकारिक कार्य किया उनमें विन्ध्यबासि नाम के एक आचार्य हैं जिन्हें रुद्रिल भी कहा गया हैं । उनका कोई स्वतंत्र ग्रंथ तो नहीं किन्तु उद्धरण श्लोकवार्त्तिक आदि में प्राप्त हैं । सांख्यसूत्र के वृत्तिकार अनिरुद्ध, महादेव वेदान्ती तथा नागेशभट्ट प्रसिद्ध हैं । विवेचनकार शिवानन्द तथा तत्त्वयथार्थदीपनकार भावागणेश भी उल्लेख्य हैं । सांख्य कारिका के टीकाकारों के विषय में तो आगे लिखा ही जायगा । १६ वीं शती में इस दर्शन के महत्त्वपूर्ण आचार्य हुए हैं विज्ञानभिक्षु । इन्होंने सांख्यसूत्रों पर सांख्यप्रवचन भाष्य तथा सांख्यसार नाम से स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना भी की है ।

सांख्यसप्तति तथा उसकी टीकाएँ—

ईश्वर कृष्णने जिन ७० कारिकाओं का निर्माण किया वे सांख्यसप्तति नाम से प्रसिद्ध हैं। सम्पूर्ण सांख्यशास्त्र का सार इन्होंने इन कारिकाओं में रख दिया है। जैसा कि उनका स्वयं कथन है।[1] इन्हीं का नाम सुवर्णसप्तति या हिरण्य-सप्तति भी कहा गया है। संभवतः अत्यन्त सारभूत होने से महत्त्व के कारण यह नाम पड़ा हो। अनुयोग द्वार सूत्र में "कणग सत्तरी" पद इसके लिये प्रयुक्त हुआ है। छठी शताब्दी के प्रसिद्ध विद्वान् परमार्थ ने वृत्तिसहित इस हिरण्य-सप्तति का चीनी भाषा में अनुवाद किया था, जिसका पुनः चीनी भाषा से संस्कृत में अनुवाद श्री अय्यास्वामी शास्त्री ने किया है।

इस ग्रन्थ पर ६ प्राचीन व्याख्याएँ उपलब्ध हैं—

१—माठर वृत्ति—यह संभवतः इस ग्रन्थपर उपलब्ध वर्तमान टीकाओं में सबसे प्राचीन है। अनुयोगद्वारसूत्र में कापिलं षष्टितन्त्रं के साथ माठरं पद आता है इससे भी इसकी प्राचीनता सिद्ध है। छठी शताब्दी में जिस वृत्ति के साथ सुवर्णसप्तति का चीनीभाषा में अनुवाद हुआ सम्भवतः वह यही वृत्ति थी। इसका असन्दिग्ध स्वरूप उपलब्ध नहीं है। चौखम्भा संस्कृत सीरीज से जो माठरवृत्ति प्रकाशित हुई है वह या तो गौड़पाद भाष्य का विशद रूप है या फिर गौड़पाद भाष्य उसका सक्षिप्त रूप।

२—युक्तिदीपिका—यह सांख्यसप्तति की सबसे अच्छी एवं उपयुक्त टीका है। इसके कर्त्ता का नाम ज्ञात नहीं। इसे कोई वाचस्पति मिश्र तथा कोई किसी राजा की कृति मानते हैं। इसके रचनाकाल का निर्णय न होने पर भी यह तो कहना ही पड़ता है कि यह विक्रम संवत् की चतुर्थ शती से अर्वाचीन नहीं है। श्री उदय वीर शास्त्री का कथन है कि वाचस्पति मिश्र ने जिस राजवार्तिक के श्लोकों के उद्धरण तत्वकौमुदी में दिये हैं वह यही है।[2]

३—जयमंगला—कामन्दकीय नीतिसार, वात्स्यायन कामसूत्र तथा भट्टि-काव्य पर भी इस नाम की टीकाएँ हैं परन्तु इन सबका कर्त्ता एक ही व्यक्ति है यह नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत टीका का कर्त्ता शंकर प्रतीत होता है। और

१—"सप्तत्यां किल येर्थास्तेर्था कृत्स्नस्य षष्टितंत्रस्य" कारिका ७०

२—देखिये सांख्यदर्शन का इतिहास पृष्ठ ५०४

इसका रचना-काल विक्रम सं० का सप्तम शतक के लगभग हो सकता है। क्योंकि नवमशती में वाचस्पति सम्मानपूर्वक इसके उद्धरण देते हैं। युक्तिदीपिका से यह टीका बाद की प्रतीत होती है।

४—तत्त्वकौमुदी—यह प्रसिद्ध दार्शनिक श्रीवाचस्पति मिश्र की कृति है, जिनका काल प्रायः विक्रम की ९वीं शती का पूर्वार्ध निश्चित हैं। तत्त्वकौमुदी अन्य सभी टीकाओं की अपेक्षा अधिक प्रचलित रही है। क्योंकि पश्चाद्वर्ती होने से सभी के सिद्धान्तों का पर्यालोचन इसमें हुआ है और प्रौढ़ रचना है ही।

५—चन्द्रिका—इस टीका के रचयिता श्री नारायण तीर्थ हैं जिनका काल १७वीं शती है।

६—गौड़पादभाष्य—यह युक्तिदीपिका से पश्चात् तथा जयमंगला से पूर्व की रचना प्रतीत होती है। हम पूर्व कह चुके हैं कि वर्तमान उपलब्ध माठर वृत्ति से इसका अत्यन्त साम्य है। माण्डूक्यकारिका के रचयिता गौड़पाद से यह अभिन्न हैं या नहीं, यह अभी तक विवादास्पद ही है।

मूल कारिकाओं को संक्षेप में सरलता से समझने के लिये यह गौड़पाद भाष्य अत्यन्त उपयुक्त है। "नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते" वाली उक्ति इसमें अक्षरशः चरितार्थ होती है, इसलिये हमने इसका हिन्दी अनुवाद, पाठकों के लिये सुलभ करने की चेष्टा की है। यद्यपि इस भाष्य का अनुवाद इससे पूर्व श्री जनार्दनशास्त्री पाण्डेय द्वारा हो चुका है। श्रीपाण्डेयजी टीकाग्रन्थों का अनुवाद करने में सिद्धहस्त हैं और हमने भी इस अनुवाद में उनकी शैली तथा भापा का पर्याप्त उपयोग किया है। एतदर्थ हम कृतज्ञतापूर्वक उनका आभार ग्रहण करते हैं। फिर भी हमें जो कुछ नवीन सूझा है हमने इसमें देने की चेष्टा की है और यथास्थान टिप्पणी आदि देकर मूल के भावों को समझाने का प्रयत्न किया है। यदि इससे पाठकों का किंचित् भी उपकार हुआ तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे। अल्पज्ञता एवं स्वाभाविक चपलतावश हमसे जो त्रुटियाँ रह गई हों उनके लिये आशा है विद्वज्जन क्षमा करेंगे।

जगन्नाथ शास्त्री

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

अथ साङ्ख्यकारिकाः

[साङ्ख्यप्रतिपादित ज्ञानकी उपादेयता]

दुःखत्रयाऽभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥ १ ॥

अन्वय—दुःखत्रयाभिघातात्, तदभिघातके, हेतौ, जिज्ञासा, दृष्टे, सा अपार्था, चेत्, न, एकान्तात्यन्ततोऽभावात् ।

अर्थ—तीन प्रकारके दुःखसे (प्राणी) पीड़ित रहते हैं, अतः उस दुःखके अभिघातक (विनाशक) कारणको जाननेकी इच्छा करनी चाहिये । "दृष्ट (प्रत्यक्ष-लौकिक) उपायोंसे ही उस (जिज्ञासा) की पूर्ति हो जायगी ?" नहीं, (दृष्ट उपायोंसे) निश्चितरूपसे और सदाके लिये दुखोंका अभाव नहीं होता ॥ १ ॥

★ श्रीगौडपादकृतं भाष्यम् ★

कपिलाय नमस्तस्मै, येनाऽविद्योदधौ जगति मग्ने ।
कारुण्यात्साङ्ख्यमयी, नौरिव विहिता प्रतरणाय ॥ १ ॥
अल्पग्रन्थं स्पष्टं, प्रमाण-सिद्धान्त-हेतुभिर्युक्तम् ।
शास्त्रं शिष्यहिताय, समासतोऽहं प्रवक्ष्यामि ॥ २ ॥

दुःखत्रयेति । अस्या आर्याया उपोद्घातः क्रियते । इह भगवान् ब्रह्मसुतः कपिलो नाम । तद्यथा—

'सनकश्च, सनन्दश्च, तृतीयश्च सनातनः ।
आसुरिः कपिलश्चैव, वोढुः, पञ्चशिखस्तथा ॥ १ ॥
इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः ।'

कपिलस्य सहोत्पन्नानि 'धर्मो ज्ञानं वैराग्यम् ऐश्वर्यञ्चे'ति । एवं स उत्पन्नः सन्नन्धे तमसि मज्जज्जगदालोक्य, संसारपारम्पर्येण सत्कारुण्यो जिज्ञासमानाय आसुरिगोत्राय ब्राह्मणायेदं पञ्चविंशतितत्त्वानां ज्ञानमुक्तवान्, यस्य ज्ञानाद् दुःखक्षयो भवति,—

'पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र-तत्राश्रमे वसेत् ।
जटी, मुण्डी, शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥'

तदिदमाहुः—दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासेति । तत्र दुःखत्रयम्—१ आध्यात्मिकम्, २ आधिभौतिकम्, ३ आधिदैविकञ्चेति । तत्राध्यात्मिकं द्विविधं, शारीरं मानसं

चेति। शारीरं—वातपित्तश्लेष्मविपर्ययकृतं ज्वरातिसारादि। मानसं प्रियवियोगाऽप्रियसंयोगादि। आधिभौतिकं—चतुर्विधभूतग्रामनिमित्तं मनुष्यपशुमृगपक्षिसरीसृपदंशमशकयूकमत्कुणमत्स्यमकरग्राहस्थावरेभ्यो, जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जेभ्यः सकाशादुपजायते। आधिदैविकं-देवानामिदं दैवं, दिवः प्रभवतीति वा दैवं, तदधिकृत्य यदुपजायते शीतोष्णवातवर्षाऽशनिपातादिकम्।

एवं यथा—दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा कार्या। क्व? तदभिघातके हेतौ तस्य = दुःखत्रयस्य, अभिघातको योऽसौ हेतुस्तत्प्रति। दृष्टेसाऽपार्था चेत्। दृष्टे = हेतौ दुःखत्रयाभिघातके, सा = जिज्ञासा-अपार्था चेद् = यदि। तत्राध्यात्मिकस्य द्विविधस्यापि आयुर्वेदशास्त्रक्रियया, प्रियसमागमाऽप्रियपरिहारकटुतिक्तकषायक्वाथादिभिर्दृष्ट एव आध्यात्मिकोपायः। आधिभौतिकस्य रक्षादिनाऽभिघातो दृष्टः। दृष्टे साऽपार्था चेत् त्वं मन्यसे? न, एकान्तात्यन्ततोऽभावात्। यत एकान्ततः = अवश्यम्, अत्यन्ततः = नित्यं, दृष्टेन हेतुना अभिघातो न भवति, तस्मादन्यत्र एकान्तात्यन्ताभिघातके हेतौ जिज्ञासा = विविदिषा कार्येति॥ १॥

* भाष्यानुवाद *

उस कपिलको नमस्कार है जिसने, अविद्या-समुद्रमें डूबते हुए संसारके लिये, दयापूर्वक साङ्ख्यशास्त्ररूप ऐसी नाव बनाई, जिससे आसानीसे इस (अविद्यारूप समुद्र) को पार किया जा सके॥

इस छोटेसे ग्रन्थमें, जो कि स्पष्ट है, प्रमाण, सिद्धान्त और हेतुओंसे युक्त है, साङ्ख्यशास्त्रको शिष्योंके कल्याणके लिये संक्षेपसे कहूँगा।

दुःखत्रया०—इस आर्या (छन्द) का प्रसङ्ग यों है—भगवान् ब्रह्माजीके पुत्र कपिल मुनि प्रसिद्ध हैं। जैसा कि शास्त्रोंमें कहा है—सनक, सनन्दन और तीसरे सनातन, आसुरि, कपिल, वोढु और पंचशिख, ये सात महर्षि ब्रह्माजीके (मानस) पुत्र कहे गये हैं।

धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य भी कपिलके साथ ही उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार उत्पन्न कपिलको अज्ञानान्धकारमें डूबते संसारको देखकर जन्ममरणकी परम्परापर दया हो आई और उन्होंने (जगत्के उद्धारकी) जिज्ञासा करते हुए आसुरिगोत्रज ब्राह्मणको २५ तत्त्वों के इस ज्ञानका उपदेश किया, जिसको जानने से दुःखोंका नाश हो जाता है। (जैसा कि कहा है—) "२५ तत्त्वोंके ज्ञानसे युक्त व्यक्ति जटी (वानप्रस्थ), (मुंडी संन्यासी), शिखी (ब्रह्मचारी) अथवा

जिस-किसी भी आश्रम में हो, दुःखों से मुक्त हो जाता हैं।" उसीको इन शब्दों में कहते हैं—दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा।

दुःख तीन प्रकार के हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। उनमें आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार के हैं—शारीरिक (शरीर-सम्बन्धी) और मानसिक (मनःसम्बन्धी)। इनमें बात, पित्त और कफ नामक (शरीर के अन्दर रहनेवाले) तीन दोषों के व्यतिक्रम से होनेवाला ज्वर, अतिसार आदि रोग शारीरिक दुःख हैं। जिसे चाहते हैं वह न मिले और जो नहीं चाहिये वह मिल जाय, यह मानस दुःख हैं। आधिभौतिक का अर्थ है चार प्रकार के भूत (प्राणिसमूह) से होनेवाला अर्थात् मनुष्य, पशु (गाय, घोड़ा आदि), मृग (सिंहादि), पक्षी, सरीसृप (सर्पादि), मशक (मच्छर) जूँए, खटमल, मछली, ग्राह तथा स्थावर (लकड़ी पत्थर आदि) जरायुज[1], अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्जों के द्वारा जो उत्पन्न होता है। आधिदैविक—दैव अर्थात् देवता सम्बन्धी अथवा दिव = आकाश से जो होता है वह 'दैव' कहलाता है, (उसको) लेकर जो (दुःख) उत्पन्न होता है वह आधिदैविक है। जैसे—शीत, उष्ण, वायु, वर्षा, वज्र, उल्कापात आदि।

इस प्रकार त्रिविध दुःख से प्रताड़ित व्यक्तियों को जिज्ञासा (जानने की इच्छा) करनी चाहिये। (प्रश्न–) जिज्ञासा कहाँ करनी चाहिये ? अर्थात् क्या जाननेकी इच्छा करनी चाहिये ? (उत्तर–) तदभि०। उस दुःखत्रय के विनाशक (तीनों प्रकार के दुःखों को नष्ट करनेवाले) कारणों की (जिज्ञासा करनी चाहिये)। (प्रश्न–) **दृष्टे०** यदि दृष्ट (प्रत्यक्ष-लौकिक) उपायों से ही उस जिज्ञासा की शान्ति हो सकती हो तो ? (जैसे–) रसायनादि औषध-सेवन या शल्यक्रिया आदि से (शारीरिक दुःख का) तथा प्रिय वस्तु की प्राप्ति एवं अप्रिय वस्तु के परिहार से (मानसिक का) कटु, तिक्त- कषाय क्वाथादि से भी प्रत्यक्ष ही लोकमें आध्यात्मिक दोनों प्रकार के दुःख की निवृत्ति का उपाय देखा जाता

---

१. मनुष्य, पशु और मृग जरायुज हैं—ये जरायु (जर = एक प्रकार की झिल्ली जो कि गर्भ से ही देह में लिपटी रहती हैं) से उत्पन्न होते हैं। पक्षी सरीसृप, मछली ग्राह आदि अण्डज (अण्डे से उत्पन्न होनेवाले) हैं, जूँए आदि स्वेदज (पसीनेसे होनेवाले) तथा वृक्षादि उद्भिज्ज हैं।

है, आधिभौतिक का भी जिन प्राणियों से दुःख उत्पन्न होने की आशंका है उनसे रक्षा के उपाय आदि करने से तथा यज्ञ, दान, जप-पाठादि से आधिदैविक दुःखनिवृत्ति के उपाय देखे जाते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष उपायों से भी त्रिविध दुःख-निवृत्ति देखी जाती है। इन लौकिक उपायों से ही जब वह जिज्ञासा शान्त हो सकती हैं तो शास्त्रज्ञानरूप अलौकिक उपाय की जिज्ञासा क्यों की जाय ? यदि ऐसा मानते हो तो ? (उत्तर–) यह ठीक नहीं क्यों ? एकान्ता० क्योंकि एकान्ततः = अवश्य और अत्यन्ततः = पूर्णरूप से दृष्ट हेतु से दुःखत्रय की निवृत्ति नहीं होती।[१] इस लिये ऐसे हेतु को जानने की इच्छा अवश्य करनी चाहिये जिससे दुःखत्रय अवश्य निवृत्त हो जायँ और फिर उनके उत्पन्न होने की संभावना न हो ॥ १ ॥

[वैदिक उपायों की अनुपादेयता]

दृष्टवदानुश्रविकः, स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ २ ॥

अन्वय—**दृष्टवत्, आनुश्रविकः, सः, हि, अविशुद्धि-क्षय-अतिशययुक्तः, तद्विपरीतः, श्रेयान्, व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्।**

अर्थ—दृष्ट (प्रत्यक्ष-लौकिक) उपायों की तरह ही आनुश्रविक (वैदिक) उपाय भी हैं। क्योंकि वह अविशुद्धि (अस्वच्छता), क्षय (नाश) और अतिशय (विशेष) से युक्त है। इन (लौकिक और वैदिक) उपायोंसे विपरीत जो है वही व्यक्त (महदादि), अव्यक्त (प्रधान) तथा ज्ञ (पुरुष) का विशेष ज्ञान होने से श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

---

१. अर्थात् दृष्ट उपायों से दुःखच्छेद हो ही जाता है और एक बार दुःख निवृत्त हो जानेपर वह फिर कभी होता ही नहीं, ऐसा नियम नहीं है। जैसे ज्वर की दवा करके ज्वर दूर हो ही जायगा या एक बार दूर हो गया तो फिर कभी आयेगा ही नहीं ऐसा नही कह सकते, क्योंकि ज्वरनाशक दवा सभी ज्वरोंमें काम नहीं करती, निदानके अनुसार पित्तप्रयुक्त ज्वरकी दवासे यदि वह शान्त हो भी गया तो पुनः वातप्रकोपसे उभड़ सकता है, उसकी सदाके लिये निवृत्तिनहीं होती (ऐसे ही सभी दुःखोंमें समझना चाहिये)। अतः लौकिक उपायोंसे दुःखत्रयकी निवृत्ति निश्चित रूप से संभव नहीं मानी जा सकती।

भाष्यम्—यदि दृष्टादन्यत्र जिज्ञासा कार्या, ततोऽपि नैवम् । यत आनुश्रविको हेतुः दुःखत्रयाभिघातकः । अनुश्रूयत इत्यनुश्रवः, तत्र भवः—आनुश्रविकः । स च आगमात् सिद्धः । यथा—

'अपाम सोमममृता अभूमाऽगन्म ज्योतिरविदाम देवान् ।
किं नूनमस्मान् तृणवदरातिः, किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य ॥'

कदाचिदिन्द्रादीनां कल्पनाऽऽसीत्—कथं वयममृता अभूमेति । विचार्य, यस्माद्वयमपाम सोमं = पीतवन्तः सोमं, तस्मादमृता अभूम = अमरा भूतवन्त इत्यर्थः । किञ्च-अगन्म ज्योतिः । गतवन्तः = लब्धवन्तः ज्योतिः = स्वर्गमिति । अविदाम देवान् = दिव्यान् विदितवन्तः । एवं च किं नूनमस्मान् तृणवदरातिः । नूनं = निश्चतं, किमरातिः = शत्रुरस्मान् तृणवत् करोति । किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य । धूर्तिः = जरा, हिंसा वा किं करिष्यति अमृतमर्त्यस्य ?

अन्यच्च वेदे श्रूयते—आत्यन्तिकं फलं पशुवधेन । 'सर्वाँल्लोकान् जयति, मृत्युं तरति, पाप्मानं तरति, ब्रह्महत्यां तरति, योऽश्वमेधेन यजते' इति । ऐकान्तात्यन्तिके एवं वेदोक्ते—अपार्थैव जिज्ञासेति । न । उच्यते—दृष्टवदानुश्रविक इति । दृष्टेन तुल्यो दृष्टवत् । योऽसौ आनुश्रविकः कस्मात् स दृष्टवत्, यस्मात्-अविशुद्धिक्षयातिशययुक्तःअविशुद्धियुक्तः—पशुघातात् । तथा चोक्तम्—

'षट् शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि ।
अश्वमेधस्य वचनादूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥' इति ।

इत्थं यद्यपि श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मस्तथापि मिश्रीभावादविशुद्धियुक्त इति । तथा—

'बहूनीन्द्रसहस्राणि देवानां च युगे युगे ।
कालेन समतीतानि, कालो हि दुरतिक्रमः ॥' इति ।

एवमिन्द्रादिनाशात् क्षययुक्तः । तथाऽतिशयो = विशेषस्तेन युक्तः । विशेषगुणदर्शनादितरस्य दुःखं स्यादिति । एवमानुश्रविकोऽपि हेतुर्दृष्टवत् । कस्तर्हि श्रेयानिति चेत् । उच्यते । तद्विपरीतः श्रेयान् । ताभ्यां-दृष्टानुश्रविकाभ्यां, विपरीतः श्रेयान् = प्रशस्यतर इति, अविशुद्धिक्षयातिशयाऽयुक्तत्वात् । स कथमित्याहव्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् । तत्र व्यक्तं = महदादि, बुद्धिरहङ्कारः, पञ्च तन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चमहाभूतानि । अव्यक्तं = प्रधानम् । ज्ञः = पुरुषः । एवमेतानि 'पञ्चविंशतितत्त्वानि । व्यक्ताव्यक्तज्ञाः' कथ्यन्ते । एतद्विज्ञानाच्छ्रेय इति । उक्तं च 'पञ्चविंशतितत्त्वज्ञ' इत्यादि ॥ २ ॥

भाष्यानु०—यदि दृष्ट (लौकिक) उपायों से दुःखत्रयनिवृत्ति न भी हो तो अन्यत्र (अर्थात् वैदिक में) जिज्ञासा करनी चाहिए, उससे भी दुःख नहीं होते क्योंकि आनुश्रविक (उपाय) दुःखत्रयाभिघातक है ! अनु = गुरुपाठ के अनन्तर, जो सुना जाता है उसे अनुश्रव कहते हैं अर्थात् वेद। उसमें होनेवाला आनुश्रविक अर्थात् वैदिक। वह तो आगम (परम्परा) से ही सिद्ध हैं।

जैसे—अपाम सोम०। किसी समय देवों ने विचार किया कि हम अमर कैसे हुए ? यह विचारकर वे इस निर्णय पर पहुँचे। क्योंकि (अपाम सोमं) हमने सोम पिया है इसलिए (अमृता अभूम) हम अमर हुए हैं, और (अगन्म ज्योतिः) हम ज्योतिः = स्वर्ग को प्राप्त कर लिए हैं (अविदाम देवान्) दिव्य भोगों को भोगते हैं। इसलिए (किं नूनमस्मान् तृणवदरातिः) निश्चय ही तिनके के समान ये शत्रु हमारा क्या कर लेंगे। (किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य) अमर प्राणी को धूर्ति = बुढ़ापा या हिंसा, कैसे आ सकती है। और भी, वेद में पशुवध से अत्यन्त फल सुना जाता है—'जो अश्वमेध यज्ञ करता है वह सब लोकों को जीत लेता है, मृत्यु को तर जाता है, पापों को नष्ट कर देता है, ब्रह्महत्या से भी मुक्त हो जाता है" इत्यादि। जब इस प्रकार वैदिक उपायों से नित्य और अवश्य होनेवाली दुःख-निवृत्ति संभव है, तब तत्त्वज्ञानरूप शास्त्र में व्यर्थ जिज्ञासा क्यों की जाय ? ऐसा नहीं, यही कहा जाता है—इष्ट०। यह वैदिक उपाय भी लौकिक की तरह ही हैं। कैसे ? क्योंकि यह अविशुद्धि, क्षय और अतिशय से युक्त है। अविशुद्धि = अस्वच्छता, इसलिए कि उनमें पशुओं का वध किया जाता है। जैसे कहा है—

"अश्वमेध के लिए प्रयुक्त वचन से तीन-तीन पशु कम करके उस यज्ञ में दोपहर तक ६०० पशु नियुक्त किये (मारे) जाते हैं।" इस प्रकार यद्यपि श्रुति-स्मृतियों में ऐसे विधान कहे गये हैं परन्तु हत्या तो होती ही है, अतः धर्म-अधर्म का मिश्रण हो जाने से यह अविशुद्धि युक्त है।

ऐसे ही "देवताओं के युग-युग में कई हजार इन्द्र काल के गाल में चले जाते हैं अतः काल का कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता।" इत्यादि वचनों से स्पष्ट है कि इन्द्रादि का भी नाश होता है अतः यह भी क्षययुक्त (नाशवान्) है। इसी प्रकार अतिशययुक्त भी है। अतिशय का अर्थ है विशेष। अपने से अधिक गुण-वालेको देखकर दुःख, ईर्ष्या, ग्लानि जैसे सामान्य मनुष्यों को होती है ऐसे ही देवताओं को भी कई बार हुई, ऐसा आख्यानों से प्रतीत होता है।

इसलिये लौकिक उपायों की तरह ही वैदिक उपाय भी हैं, उससे दुःखत्रय-की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। तब उचित क्या है? कहते हैं—तद्विप० उन लौकिक और वैदिक उपायों से विपरीत जो है वही श्रेष्ठ है, क्योंकि वह अविशुद्धि, क्षय और अतिशय से युक्त नहीं होगा। वह कैसे?

व्यक्ता०—व्यक्त = महद् आदि (महद् = बुद्धि, अहङ्कार, ५ तन्मात्रायें, ११ इन्द्रियाँ, ५ महाभूत, अव्यक्त = प्रधान (प्रकृति) ज्ञ=पुरुष, इस प्रकार ये २५ तत्त्व ही व्यक्ताव्यक्तज्ञ कहे जाते हैं, इनको जानने से ही कल्याण होता है जैसा कि पहले कह चुके हैं "२५ तत्त्वों को जाननेवाला०" इत्यादि ॥ २ ॥

[प्रमेयभूत २५ तत्त्वों का परिचय]

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ ३ ॥

अन्वय—**मूलप्रकृतिः, अविकृतिः, महदाद्याः, सप्त, प्रकृतिविकृतयः, षोडशकः, तु, विकारः, पुरुषः;, न प्रकृतिः न विकृतिः।**

अर्थ—मूल प्रकृति (उत्पन्न करनेवाला) प्रधान है जो अविकृति है (किसी से उत्पन्न नहीं होता)। महदादि सात (प्रकृति से उत्पन्न भी होते हैं और (अहङ्कार आदि को) उत्पन्न भी करते हैं। सोलह का समूह केवल उत्पन्न होता है। पुरुष न तो किसी से उत्पन्न होता है न किसी को उत्पन्न करता है ॥ ३ ॥

भाष्यम्—**अथ व्यक्ता-ऽव्यक्त-ज्ञानां को विशेष इति?। उच्यते मूलप्रकृतिः = प्रधानं, प्रकृतिविकृतिसप्तकस्य मूलभूतत्वात्। मूलं च सा प्रकृतिश्च मूलप्रकृतिः।** अविकृतिः = **अन्यस्मान्नोत्पद्यते तेन प्रकृतिः कस्यचिद्विकारो न भवति।** महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। **महान् = बुद्धिः। बुद्ध्याद्याः सप्त बुद्धिः १, अहङ्कारः १, पञ्च तन्मात्राणि ५। एताः सप्त प्रकृतिविकृतयः। तद्यथा-प्रधानाद् बुद्धिरुत्पद्यते, तेन विकृतिः = प्रधानस्य विकार इति। सैवाहङ्कारमुत्पादयति, अतः प्रकृतिः। अहङ्कारोऽपि बुद्धेरुत्पद्यत इति विकृतिः, स च पञ्चतन्मात्राण्युत्पादयतीति प्रकृतिः। तत्र शब्दतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः, तस्मादाकाशमुत्पद्यत इति प्रकृतिः। तथा स्पर्शतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः, तदेव वायुमुत्पादयतीति प्रकृतिः। गन्धतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः, तदेव पृथिवीमुत्पादयतीति प्रकृतिः। रूपतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः, तदेव तेज उत्पादयतीति**

प्रकृतिः । रसतन्मात्रमहङ्कारादुत्पद्यत इति विकृतिः तदेवाप उत्पादयतीति प्रकृतिः । एवं महदाद्याः सप्त प्रकृतयो, विकृतयश्च । षोडशकस्तु विकारः । पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः, पञ्च महाभूतानि, एष षोडशको गणो विकृतिरेव । विकारोविकृतिः । न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ।। ३ ।।

भाष्यानु०—अब व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ, इनमें क्या विशेषता है ? यह कहते हैं—मूलप्रकृति ही प्रधान है क्योंकि वह प्रकृति के विकारभूत (महदादि) सातों की मूलभूत (कारण रूप) है, वह मूल भी है और प्रकृति भी है अतः मूल-प्रकृति कहा है । अविकृतिः=किसी अन्य से उत्पन्न नहीं होती इसलिये प्रकृति किसी का विकार नहीं है । महदाद्याः० महान् अर्थात् बुद्धि । बुद्धि आदि—बुद्धि, अहङ्कार, तथा पाँच तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) ये सात प्रकृति के विकार हैं । वह ऐसे—प्रधान (प्रकृति) से बुद्धि उत्पन्न होती है इसलिए वह प्रधान की विकृति = विकार है और वही (बुद्धि) अहङ्कार को उत्पन्न करती है अतः (उस अहङ्कारकी) प्रकृति भी है । अहङ्कार भी बुद्धि से उत्पन्न होता है इसलिये (बुद्धि की) विकृति है और पंच तन्मात्राओं को उत्पन्न करता है इसलिये उनकी प्रकृति है । उनमें शब्दतन्मात्रा अङ्कार से उत्पन्न होती है अतः उसकी विकृति है और उससे आकाश उत्पन्न होता है इसलिये (आकाश की) प्रकृति है इसी प्रकार स्पर्श तन्मात्रा अहंकार से उत्पन्न होती है अतः उसकी विकृति है और वायु को उत्पन्न करती है अतः उसकी प्रकृति है । गन्धतन्मात्रा भी अहंकार से उत्पन्न होती है अतः उसकी विकृति है और पृथ्वी को उत्पन्न करती है अतः उसकी प्रकृति हैं । रूपतन्मात्रा भी अहंकार से उत्पन्न होती है अतः उसकी विकृति हैं और तेज को उत्पन्न करती है अतः उसकी प्रकृति है । रस तन्मात्रा भी अहंकार से उत्पन्न होती है अतः उसकी विकृति है और जल को उत्पन्न करती है अतः उसकी प्रकृति हैं । इस प्रकार महत् आदि सातों तत्त्व प्रकृति भी हैं और विकृति भी । षोडश-पाँच बुद्धीन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण) पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ), ग्यारहवाँ मन, पाँच महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) इन सोलहों का समूह केवल विकृति अर्थात् विकार ही है (अन्य से उत्पन्न होते हैं किन्तु किसी को उत्पन्न नहीं करते अतः विकृति ही हैं) प्रकृति नहीं । न प्रकृतिः० । पुरुष न तो किसी से उत्पन्न होता है और न किसी को उत्पन्न करता है ।। ३ ।।

[त्रिविध प्रमाण वर्णन]

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं, प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥ ४ ॥

अन्वय—दृष्टम्, अनुमानम्, आप्तवचनं, च, सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्, त्रिविधं, प्रमाणम्, इष्टम्, हि, प्रमेयसिद्धिः प्रमाणात् (भवति) ।

अर्थ—दृष्ट (प्रत्यक्ष), अनुमान और आप्तवचन (शब्द) ये तीन ही प्रमाण, सब प्रमाणों का इनमें ही अन्तर्भाव हो जाने से, (सांख्यवालों को) इष्ट हैं, क्योंकि प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से ही होती है ॥ ४ ॥

भाष्यम्—एवमेषां व्यक्ताव्यक्तज्ञानां त्रयाणां पदार्थानां कैः कियद्भिः प्रमाणैः, केन, कस्य वा प्रमाणेन सिद्धिर्भवति ? इह लोके प्रमेयवस्तु प्रमाणेन साध्यते । यथा प्रस्थादिभिर्व्रीहयः, तुलया चन्दनादि । तस्मात् प्रमाणमभिधेयम् ।

दृष्टमिति । दृष्टं यथा—श्रोत्रं त्वक् चक्षुर्जिह्वा घ्राणमिति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा एषां पञ्चानां पञ्चैव विषया यथासङ्ख्यम् । श्रोत्रं शब्दं गृह्णाति, त्वक्—स्पर्शं, चक्षु—रूपं, जिह्वा—रसं, घ्राणं—गन्धमिति । एतत् 'दृष्ट'—मित्युच्यते प्रमाणम् । प्रत्यक्षेणानुमानेन वा योऽर्थो न गृह्यते, स आप्तवचनाद् ग्राह्यः । यथेन्द्रो देवराजः, उत्तराः कुरवः, स्वर्गेऽप्सरस इत्यादि । प्रत्यक्षानुमानाऽग्राह्यमप्याप्तवचनाद् गृह्यते । अपि चोक्तम्—

'आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः ।
क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात् ॥
स्वकर्मण्यभियुक्तो यः सङ्गद्वेषविवर्जितः ।
पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः ॥ १ ॥

एतेषु प्रमाणेषु सर्वप्रमाणानि सिद्धानि भवन्ति । षट् प्रमाणानि इति, जैमिनिः । अथ कानि तानि प्रमाणानि ? । १. अर्थापत्तिः, २. सम्भवः, ३. अभावः, ४. प्रतिभा, ५. ऐतिह्यम्, ६. उपमानं चे' ति षट् प्रमाणानि । तत्राऽर्थापत्तिर्द्विविधा दृष्टा, श्रुता च । तत्र दृष्टा—एकस्मिम् पक्षे आत्मभावो गृहीतश्चेदन्यस्मिन्नप्यात्मभावो गृह्यत एव । श्रुता यथा—दिवा देवदत्तो न भुङ्क्ते, अथ च पीनो दृश्यते, अतोऽवगम्यते—रात्रौ भुङ्क्त इति । सम्भवो यथा—'प्रस्थ' इत्युक्ते चत्वारः कुडवाः सम्भाव्यन्ते । अभावो नाम प्रागितरेतराऽत्यन्त-सर्वाऽभावलक्षणः । प्रागभावो यथा—देवदत्तः कौमारयौवनादिषु । इतरेतराभावः—पटे घटाऽभावः । अत्यन्ता-

ऽभाव:—खरविषाण–वन्ध्यासुतखपुष्पवदिति। सर्वाऽभाव: = प्रध्वंसाऽभावो दग्धपट-वदिति। यथा शुष्कधान्यदर्शनाद् वृष्टेरभावोऽवगम्यते। एवमभावोऽनेकधा। प्रतिभा यथा—

'दक्षिणेन च विन्ध्यस्य सह्यस्य च यदुत्तरम्।
पृथिव्यामासमुद्रायां स प्रदेशो मनोरम:॥

एवमुक्ते तस्मिन् प्रदेशे शोभना: गुणा: सन्तीति प्रतिभोत्पद्यते। प्रतिमा च जानतां ज्ञानमिति। ऐतिह्यं यथा—ब्रवीति लोको यथा 'अत्र वटे यक्षिणी प्रतिवसती'त्येव ऐतिह्यम्। उपमानं यथा—गौरिव गवय:। समुद्र इव तडाग:। एतानि षट् प्रमाणानि त्रिषु = दृष्टादिष्वन्तर्भूतानि। तत्रानुमाने तावदर्थापत्तिरन्तर्भूता। सम्भवाभाव-प्रतिभै-तिह्यो-पमानाश्चाप्तवचने। तस्मात्त्रिष्वेव सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्। तदाह–'तेन त्रिविधेन प्रमाणेन प्रमाणसिद्धि:—भवतीति वाक्यशेष:। प्रमेयसिद्धि: प्रमाणाद्धि। प्रमेयं – प्रधानं, बुद्धिरहङ्कार: पञ्च-तन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चविंशतितत्त्वानि 'व्यक्ताव्यक्तज्ञा:' त्रिविधं प्रमाणमुक्तम्॥ ४॥

भाष्यानु०—इस प्रकार व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ इन तीनों पदार्थों को किन और कितने प्रमाणों से, अथवा किस प्रमाण से किस पदार्थ की, सिद्धि होती हैं? लोक में भी प्रमेय वस्तु प्रमाण से ही सिद्ध की जा सकती है, जैसे प्रस्थ (पसेरी) आदि से चावल आदि की और तराजू से चन्दन आदि की नापतौल की जाती है। इसलिये प्रमाण का वर्णन करना चाहिये।

दृष्टं०। दृष्ट (प्रत्यक्ष) जैसे—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध क्रम से इनके विषय हैं। श्रोत्र शब्द को ग्रहण करता है, त्वचा स्पर्श को, चक्षु रूप को, जिह्वा रस को और नासिका गंध को ग्रहण करती है, यही दृष्ट प्रमाण कहा जाता है।[1]

---

१. अर्थात् प्रत्यक्ष इन्द्रिय जो भी अपने विषय को ग्रहण करती है वह उसके द्वारा दृष्ट (प्रत्यक्ष) कहा जाता है, जैसे आँखने घट देखा तो चक्षुसे घटका प्रत्यक्ष हुआ, किसीको घट घट कहते सुना तो श्रोत्रसे उसका प्रत्यक्ष हुआ, आदि। इसी प्रकार पाँचों इन्द्रियों के विषयों का उनके द्वारा ग्रहण, उनसे उनका प्रत्यक्ष कहा जाता है।

प्रत्यक्ष से अथवा अनुमानसे जिस अर्थ का ग्रहण नहीं होता वह आप्तवचन में ग्रहण किया जाता है। जैसे—इन्द्र देवताओं के राजा हैं, कुरुदेश उत्तर में है, स्वर्ग अप्सराएँ हैं, आदि। प्रत्यक्ष और अनुमान (दोनों) से अग्राह्य भी आप्तवचन से ग्राह्य होता है। कहा भी है—"आप्तवचन ही आगम (शास्त्र) है, दोषों (रागद्वेषादि) का क्षय हो जाने से (व्यक्ति) आप्त कहलाता है। जिसके (रागादि) दोष क्षीण हो गये हैं वह असत्य नहीं ही बोलेगा। क्योंकि उसके असत्य बोलने में कोई कारण हो नहीं सकता। जो अपने कर्म में तत्पर है, सङ्ग (आसक्ति) और द्वेष से रहित है और ऐसे ही (स्वकर्मतत्पर और सङ्गद्वेषरहित) लोगों से नित्य सम्मानित है, वह पुरुष आप्त कहलाता है।" इन्हीं (प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवचन) प्रमाणों में सब प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है। जैमिनि (मीमांसक) ने ६ प्रमाण माने हैं। (प्रश्न—) वे ६ प्रमाण कौन हैं? अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव, प्रतिभा, ऐतिह्य और उपमान। इनमें अर्थापत्ति दो प्रकार की होती है—दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति। दृष्टार्थापत्ति जैसे—एक पक्ष में आत्मभाव ग्रहण किया गया तो दूसरे पक्ष में भी आत्मभाव ग्रहण किया ही जाता है। श्रुतार्थापत्ति जैसे–दिन में देवदत्त नहीं खाता किन्तु मोटा दीखता है इससे प्रतीत होता है कि वह रात में खाता है। सम्भव जैसे—(चार कुडव का एक प्रस्थ होता है) इसलिए प्रस्थ कहने पर चार कुडवों की सम्भावना होती है। अभाव-प्राग, इतरेतर, अत्यन्त और सर्व-अभाव रूप होता है। प्रागभाव जैसे—देवदत्त बाल्य यौवन इत्यादि में।[1]

इतरेतराभाव अर्थात् परस्पर एक में दूसरे का अभाव, जैसे पट में घटका और घट में पट का अभाव, आदि। अत्यन्ताभाव—जैसे गधे का सींग, वन्ध्या का पुत्र, आकाश कुसुम, आदि। सर्वाभाव अर्थात् प्रध्वंसाभाव–जैसे कपड़ा जल जाने पर उसका सर्वथा अभाव हो जाता है, अथवा धान सूखे देखने पर वर्षाका अभाव प्रतीत होता है। इस प्रकार अभाव अनेक प्रकार का होता है।

प्रतिभा जैसे—'विन्ध्य के दक्षिण और सह्याचल के उत्तर में समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का जो भाग है वह प्रदेश अत्यन्त मनोरम है।' ऐसा कहने पर उस प्रदेश

१. देवदत्त जब कुमार रहता है तब उसमें यौवन का प्रागभाव रहता है और जब युवा होता है तब वृद्धता का प्रागभाव, आदि।

में अत्यन्त शोभन गुण हैं ऐसी प्रतिभा उत्पन्न होती है। प्रतिभा का अर्थ है जानने वालों का ज्ञान। ऐतिह्य--जैसे लोग कहते हैं कि इस वट में यक्षिणी रहती है। यही (परम्परा से प्रचलित कथन) ऐतिह्य कहलाता है। उपमान—जैसे गाय के सदृश गवय है या समुद्र जैसा तालाब हैं, इत्यादि। इस प्रकार ये छहों प्रमाण पूर्वोक्त तीनों प्रमाणों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इनमें अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव होता है। सम्भव, अभाव, ऐतिह्य और उपमान का शब्द प्रमाण में अन्तर्भाव हो गया। इसलिए तीनों में ही सब प्रमाण सिद्ध हो जाने से त्रिविध० (तीन प्रकार का ही प्रमाण इष्ट है)। इसलिये कहते हैं कि–प्रमेय० (अर्थात् प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से होती है) प्रमेय अर्थात् प्रधान, बुद्धि, अहंकार, पाँच तन्मात्राएँ, ग्यारह इन्द्रियाँ, ५ महाभूत और पुरुष, ये ही २५ तत्त्व व्यक्त और ज्ञ, कहे जाते हैं। इनमें कुछ प्रत्यक्ष से सिद्ध होते हैं, कुछ अनुमान से और कुछ आगम से इस प्रकार तीन प्रकार के प्रमाण कहे गये हैं ॥ ४ ॥

[तीनों प्रमाणोंका लक्षण]

प्रतिविषयाऽध्यवसायो दृष्टं, त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।
तल्लिङ्ग--लिङ्गि--पूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनन्तु ॥ ५ ॥

अन्वय—**प्रतिविषयाऽध्यवसायः, दृष्टम्, त्रिविधम्, अनुमानम्, आख्यातम्, तत् लिङ्ग लिङ्गि पूर्वकम्, आप्तश्रुतिः, तु आप्तवचनम्।**

अर्थ—प्रत्येक इन्द्रिय (श्रोत्रादि) का अपने-अपने विषय (शब्दादि) में अध्यवसाय (निश्चय) ही दृष्ट (प्रत्यक्ष) है। तीन प्रकार का (पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट) अनुमान कहा गया है। वह (अनुमान) या तो लिङ्गपूर्वक होता है या लिङ्गीपूर्वक। आप्त (यथार्थवक्ता) व्यक्तियों से सुना हुआ तो आप्तवचन (शब्द) कहलाता है ॥ ५ ॥

भाष्यम्—**तस्य किं लक्षणम्? एतदाह–प्रतिविषयेषु = श्रोत्रादीनां शब्दादिविषयेषु अध्यवसायो दृष्टम्, प्रत्यक्षमित्यर्थः।** त्रिविधमनुमानमाख्यातम्। **पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टं चेति। पूर्वमस्यास्तीति पूर्ववत्। यथा मेघोन्नत्य वृष्टिं साधयति, पूर्वदृष्टत्वात्। शेषवद्यथा–समुद्रादेकं जलपलं लवणमासाद्य शेषस्याप्यस्ति लवणभाव इति। सामान्यतो दृष्टं—देशान्तराद्देशान्तरं दृष्टं गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत्। यथा चैत्रनामानं देशान्तराद्देशान्तरं प्राप्तमवलोक्य 'गतिमानयम्' इति, तद्वच्चन्द्रतारकमिति। तथा पुष्पिताऽऽम्रदर्शनादन्यत्र पुष्पिता आम्रा इति**

सामान्यतोदृष्टेन साधयति। एतत्सामान्यतोदृष्टम्। किञ्च तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमिति। तत् = अनुमानं, लिङ्गपूर्वकं—यत्र लिङ्गेन लिङ्गी अनुमीयते, यथा— दण्डेन यतिः, **लिङ्गिपूर्वकं च-यत्र लिङ्गिना लिङ्गमनुमीयते, यथा—दृष्ट्वा यतिमस्येदं त्रिदण्डमिति।** आप्तश्रुतिराप्तवचनं **च आप्ताः = आचार्या ब्रह्मादयः। श्रुतिर्वेदः आप्ताश्च श्रुतिश्च आप्तश्रुतिः तदुक्तम्-आप्तवचनमिति। एवं त्रिविधं प्रमाणमुक्तम् ॥ ५ ॥**

भाष्यानु०—उनका क्या लक्षण है? यह कहते हैं—प्रति० 'प्रतिविषयों में अर्थात् श्रोत्रादि प्रत्येक इन्द्रिय का शब्दादि प्रत्येक अपने-अपने विषय में जो अध्यवसाय = निश्चय वह दृष्ट = प्रत्यक्ष है। त्रिविध० तीन प्रकार का अनुमान कहा गया है, पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट। पूर्व जिसका है उसे पूर्ववत् कहते हैं (कारण से कार्य का अनुमान), जैसे मेघ को देखकर वर्षा का अनुमान करते हैं क्योंकि पहले देखा गया है (कि बादल आया तो उससे वर्षा हुई) शेषवत् (कार्य से कारण का अनुमान) जैसे समुद्र से एक चुल्लू जल लेकर देखा तो खारा था, इससे अनुमान हो गया कि शेष जल भी खारा ही होगा। सामान्यतो दृष्ट (कार्य तथा कारण से भिन्न लिङ्ग द्वारा अनुमान) एक देशस्थ को दूसरे देश में देखकर ('यह वही है' ऐसा अनुमान करना) चन्द्र और तारे गतिमान् हैं, जैसे चैत्र—जो कि हमने प्रयाग में देखा था अब काशी में दिखाई दिया, क्योंकि वह गतिमान् है, उसी प्रकार चन्द्र और तारे भी गतिमान् हैं। इसी प्रकार आम के एक वृक्ष में बौर आया देखकर सामान्यतः सोच लिया जाता है कि समय आ गया अतः सभी आमों में बौर आ गया होगा, यही सामान्यतो दृष्ट है। तल्लिङ्ग० वह अनुमान या तो लिङ्गपूर्वक होता है या लिङ्गी पूर्वक। लिङ्गपूर्वक उसे कहते हैं जहाँ लिङ्ग से लिङ्गी का अनुमान होता है जैसे दण्ड देखकर सन्यासी का अनुमान होता है (कि यह दण्ड सन्यासी का होगा)। लिङ्गिपूर्वक उसे कहते हैं जहाँ लिङ्गी से लिङ्ग का अनुमान होता है जैसे सन्यासी को देखकर दण्ड का अनुमान। आप्त (यथार्थवक्ता) व्यक्तियों से सुना हुआ आप्तवचन कहलाता है। आप्त व्यक्ति आचार्य या ब्रह्मा आदि हैं। श्रुति का अर्थ है वेद, आप्त और श्रुति (द्वन्द्व समास) आप्तश्रुति कहलाती है जिसका अर्थ है आप्तवचन [अर्थात् यथार्थ वक्ताओं के वाक्य से जनित वाक्यार्थज्ञानत्व

ही आप्तवचन = शब्द प्रमाण का लक्षण है,] इस तरह तीन प्रकार का प्रमाण कहा है ॥५॥

[प्रमाणों का उपयोग]

सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् ।
तस्मादपि चाऽसिद्धं परोक्षमाप्तागमात्सिद्धम् ॥६॥

अन्वय—**सामान्यतः, तु (प्रतीतिः) दृष्टात् (भवति), अतीन्द्रियाणां (प्रतीतिः) अनुमानात् (भवति), तस्माद् अपि च, असिद्धं, परोक्षम्, आप्तागमात्, सिद्धम् (भवति) ।**

अर्थ—साधारणतया सब विषयों की प्रतीति दृष्ट (प्रत्यक्ष) से होती है । अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से ओझल) पदार्थों की प्रतीति अनुमान से होती है, उससे भी जो सिद्ध नहीं होता वह परोक्ष आप्तश्रुति (शब्द प्रमाण) से सिद्ध होता है ॥६॥

भाष्यम्—**तत्र केन प्रमाणेन किं साध्यम् ?** उच्यते-सामान्यतो दृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणाम् = **इन्द्रियाण्यतीत्य वर्तमानानां प्रतीतिः सिद्धिः । प्रधानपुरुषावतीन्द्रियौ सामान्यतोदृष्टेनानुमानेन साध्येते, यस्मान्महदादिलिङ्गं त्रिगुणं यस्येदं त्रिगुणं कार्यं तत् प्रधानमिति । यतश्चाऽचेतनं चेतनमिवाभाति अतोऽधिष्ठाता पुरुष इति । व्यक्तं प्रत्यक्षसाध्यम् ।** तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात्सिद्धम् । **यथेन्द्रो देवराजः, उत्तराः कुरवः, स्वर्गेऽप्सरस इति परोक्षमाप्तवचनात् सिद्धम् ॥ ६ ॥**

भाष्यानु०—किस प्रमाण से कौन प्रमेय सिद्ध किया जाता है ? इसपर कहते हैं—सामान्यतो दृष्ट अनुमान से अतीन्द्रिय अर्थात् जो इन्द्रियों की पहुँच के बाहर हैं) उन पदार्थों की सिद्धि होती है, जैसे प्रधान और पुरुष ये अतीन्द्रिय है, इनका इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता अतः इनकी सिद्धि सामान्यतो दृष्ट अनुमान से होती है । क्योंकि महदादिरूप त्रिगुणात्मक जिसका कार्य है वह प्रधान है । अब चूंकि अचेतन भी यह (कार्य) चेतन जैसा प्रतीत होता है अतः इसका कोई अन्य अधिष्ठाता अवश्य है और वही पुरुष हैं । व्यक्त प्रत्यक्ष प्रमाण से साध्य होता है उसमें भी जो असिद्ध अर्थात् परोक्ष है वह आप्तागम (शब्द प्रमाण) से सिद्ध होता है । जैसे इन्द्र देवताओं के राजा हैं, कुरु देश उत्तर में है स्वर्ग में अप्सराएँ हैं आदि । यह सब परोक्ष आप्तवचन से ही सिद्ध होता है ॥ ६ ॥

[विद्यमान पदार्थों की भी अनुपलब्धि में कारण]

अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च ॥

अन्वय—अतिदूरात्, सामीप्यात्, इन्द्रियघातात्, मनोऽनवस्थानात्, सौक्ष्म्याद्, व्यवधानात्, अभिभवात्, समानाभिहारात् च (अर्थानामनुपलब्धिर्भवति)।

अर्थ—अत्यन्त दूर होने से, अत्यन्त समीप होने से, इन्द्रियों के नष्ट हो जाने से, मन की अस्थिरता से, सूक्ष्म होने से, किसी वस्तु का व्यवधान होने से, किसी उत्कट वस्तु द्वारा अभिभूत होने से तथा अपने सदृश पदार्थ में मिल जाने से विद्यमान वस्तु की भी उपलब्धि नहीं होती ॥ ७ ॥

भाष्यम्—अत्र कश्चिदाह–प्रधानं, पुरुषो वा नोपलभ्यते, यच्च नोपलभ्यते लोके तन्नास्ति, तस्मात्तावपि न स्तः। यथा द्वितीयं शिरः, तृतीयो बाहुरिति। तदुच्यते—अत्र सतामप्यर्थानामष्टधोपलब्धिर्न भवति। तद्यथा—१ इह सतामप्यर्थानामतिदूरादनुपलब्धिर्दृष्टा। यथा–देशान्तरस्थानां चैत्र-मैत्र-विष्णुमित्राणाम्। २ सामीप्याद्यथा चक्षुषाञ्जनानुपलब्धिः। ३ इन्द्रियाभिघाताद्यथा-बधिरान्धयोः शब्दरूपानुलब्धिः। ४ मनोऽनवस्थानाद्यथा–व्यग्रचित्तः सम्यक्कथितमपि नावधारयति। ५ सौक्ष्म्याद्यथा-धूमो-ष्म-जल-नीहार-परमाणवो गगनगता नोपलभ्यन्ते। ६ व्यवधानाद्यथा—कुड्येन पिहितं वस्तु नोपलभ्यते। ७ अभिभवाद्यथा—सूर्यतेजसाभिभूता ग्रहनक्षत्रतारकादयो नोपलभ्यन्ते। ८ समानाभिहाराद्यथा—मुद्गराशौ मुद्गः क्षिप्तः कुवलयामलकमध्ये कुवलयाऽमलके क्षिप्ते, कपोतमध्ये कपोतो नोपलभ्यते, समानद्रव्यमध्याहृतत्वात्। एवमष्टधाऽनुपलब्धिः सतामर्थानामिह दृष्टा ॥ ७ ॥

भाष्यानु०—यहाँ किसी ने कहा था कि प्रधान और पुरुष उपलब्ध—इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं। लोक में जो वस्तु नहीं पाई जाती है उसे नहीं माना जाता अतः वे दोनों (प्रकृति-पुरुष) भी नहीं ही हैं, जैसे दूसरा सिर, तीसरा हाथ (किसी का नहीं देखा जाता अतः मान लिया जाता है कि एक सिर और दो हाथ ही सबको होते हैं)। इसपर कहते हैं—आठ ऐसे कारण हैं जिनसे विद्यमान पदार्थों की भी उपलब्धि नहीं होती। वह ऐसे **अतिदूरात्**—विद्यमान पदार्थ भी अत्यन्त दूर होने पर दिखाई नहीं देते, जैसे दूर देश में गये हुए चैत्र मैत्र विष्णु-

मित्र आदि नहीं दीखते। **सामीप्यात्**––जैसे आँख में लगा अंजन उसी आँख से नहीं दीखता। इन्द्रियघातात्—जैसे वहिरे शब्द नहीं सुन पाते और अन्धे रूप को नहीं देख पाते (क्योंकि उनकी वे इन्द्रियाँ नष्ट हो गई हैं)। मनोऽनवस्थानात् जिसका मन व्यग्र है—स्थिर नहीं हैं वह अच्छी प्रकार कही बात को भी ग्रहण नहीं करता। सौक्ष्म्यात्—जैसे––धूम, ऊष्म, जल, हिम आदि के परमाणु आकाश में नहीं दिखाई देते। व्यवधानात्—बीच में किसी वस्तु का व्यवधान होने से। जैसे दीवार से ओझल हुई वस्तु नहीं दीखती। अभिभवात्—जैसे सूर्य के तेज से परिभूत चन्द्र नक्षत्रादि नहीं दीखते। समानाभिहारात्––जैसे–भूँग के ढेर में फेंके हुए मूँग, कमल और आँवलों में डाले हुए कमल या आँवला, कबूतरों के समूह में मिला कबूतर नहीं पहचाना जा सकता क्योंकि वह अपने ही सदृश द्रव्यों में मिल जाता है, इस प्रकार विद्यमान पदार्थों की भी आठ प्रकार से अनुपलब्धि होती है ॥ ७ ॥

प्रकृति और पुरुष की अनुपलब्धि में कारण]

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाऽभावात्, कार्यतस्तदुपलब्धिः।
महदादि तच्च कार्यं, प्रकृतिविरूपं; सरूपं च ॥ ८ ॥

अन्वय—सौक्ष्म्यात्, तदनुपलब्धिः, न, अभावात्, कार्यतः, तदुपलब्धिः, कार्थं, महदादि, तत् च प्रकृतिविरूपं सरूपं, च।

अर्थ—अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ही प्रधान का प्रत्यक्ष नहीं होता, अभाव के कारण नहीं। कार्य से तो उसकी उपलब्धि (विद्यमानता) सिद्ध होती है। महद् आदि उसके कार्य हैं जो प्रकृति के विरूप भी हैं, सरूप भी ॥ ८ ॥

भाष्यम्—एवं चाऽस्ति किमभ्युपगम्यते–प्रधानपुरुषयोरपि-एतयोर्वाऽनुपलब्धिः केन हेतुना, केन चोपलब्धिः ? तदुच्यते–सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः। प्रधानस्येत्यर्थः। प्रधानं सौक्ष्म्यान्नोपलभ्यते, यथाकाशे धूमोष्मजलनीहारपरमाणवः सन्तोऽपि नोपलभ्यन्ते। कथं तर्हि तदुपलब्धिः ?। 'कार्यतस्तदुपलब्धिः'। कार्यं दृष्ट्वा कारणमनुमीयते। अस्ति प्रधानं कारणं––यस्येदं कार्यम्। बुद्धिरहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चमहाभूतान्येव तत्कार्यम्। तच्च कार्यं—'प्रकृतिविरूपम्'। प्रकृतिः = प्रधानं, तस्य विरूपं = प्रकृतेरसदृशम्। सरूपं च। समानरूपं च। यथा लोकेऽपि पितुस्तुल्य इह पुत्रो भवत्यतुल्यश्च। येन हेतुना तुल्यमतुल्यं, तदुपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥ ८ ॥

भाष्यानु०—(प्रश्न) यह आठ प्रकार तो माने, पर इनसे क्या सिद्ध हुआ ? अर्थात् इनमें से किन कारणों से प्रधान और पुरुष की अनुपलब्धि होती है और किन कारणों से उपलब्धि ? इसी पर करते हैं—सौक्ष्म्यात्त० (नाभावात्) तत् का अर्थ है प्रधान। अति सूक्ष्म होने से प्रधान की उपलब्धि नहीं होती। (वह है ही नहीं ऐसा नहीं) जैसे आकश में धूम, ऊष्मा, जल और हिम-कणों के परमाणु रहते हुए भी नहीं दीखते। (प्रश्न—) तब फिर प्रधान है इसमें क्या प्रमाण ? अर्थात् उसकी उपलब्धि कैसे होती है। (उत्तर—)कार्यत० कार्य को देखकर उस (कारण) का अनुमान होता है। प्रधान कारण है जिसका यह सब कार्य है। महदादि० बुद्धि, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा, ग्यारह इन्द्रियाँ, पंचमहाभूत ही उस प्रधान के कार्य हैं। 'प्रकृतिविरूपंसरूपं च' यह कार्य (महादादि) प्रकृति अर्थात् प्रधान के विरूप = असदृश है और सरूप = समान-रूपवाला भी है। जैसे लोक में भी देखा जाता है कि पुत्र पिता के सदृश भी होता है और असदृश भी। यह कार्य अपने कारणभूत प्रधान के सदृश और अस-दृश कैसे है ? यह आगे कहेंगे ॥ ८ ॥

[सत्कार्यवाद की स्थापना]

असदकरणादुपादानग्रहणात्, सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ ९ ॥

अन्वय—असदकरणात्, उपादानग्रहणात्, सर्वसम्भवाभावात्, शक्तस्य, शक्यकरणात्, कारणभावात्, च, कार्यं सत्।

अर्थ—अविद्यमान को उत्पन्न न कर सकने से, जो कार्य आवश्यक हो उसी का कारण ग्रहण करने से, सब कारणों से सब कार्यों के न होने से, जो जिस कार्य में समर्थ है उस कारण से वही कार्य होने से तथा कारण जैसा है कार्य भी वैसा ही होने से (यह सिद्ध है कि) कार्य सत् (विद्यमान) है।

भाष्यम्—यदिदं महदादिकार्यं तत् किं प्रधाने सत् उताहोस्विदसत् ?। आचार्यविप्रतिपत्तेरयं संशयः। यतोऽत्र साङ्ख्यदर्शने सत्कार्यं, बौद्धादीनाम सत्कार्यम्। यदि सत्, असन्न भवति। अथाऽसत्, सन्न भवतीति विप्रतिषेधः। तत्राह—असद्० न सत्-असत्, असतोऽकरणं, तस्मात्सत्कार्यम्। इह लोकेऽसत् करणं नास्ति, यथा सिकताभ्यस्तैलोत्पत्तिः। तस्मात् सतः करणादस्ति प्रागुत्पत्तेः प्रधाने व्यक्तम्। अतः 'सत्कार्यम्'। किञ्चान्यत् उपादानग्रहणात्। उपादानं =

कारणं, तस्य ग्रहणात् । इह लोके यो येनार्थी, स तदुपादानग्रहणं करोति । दध्यर्थी क्षीरस्य, न तु जलस्य । तस्मात् सत्कार्यम् । इतश्च-सर्वसम्भवाभावात् सर्वस्य सर्वत्र सम्भवो नास्ति । यथा सुवर्णस्य रजतादौ, तृणपांशुसिकतासु । तस्मात् सर्वसम्भवाभावात् सत्कार्यम् । इतश्च, शक्तस्य शक्यकरणात् । इह कुलालः शक्तो मृद्दण्डचक्रचीवररज्जुनीरादिकरणम्, उपकरणं वा शक्यमेव घटं मृत्पिण्डादुत्पादयति, तस्मात् सत्कार्यम् । इतश्च, कारणभावाच्च सत्कार्यम् कारणं यल्लक्षणमेव तल्लक्षणमेव कार्यमपि, यथा यवेभ्यो यवाः व्रीहिभ्यो व्रीहयः । यदाऽसत्कार्यं स्यात्ततः कोद्रवेभ्यः शालयः स्युः, न च सन्तीति, तस्मात्—सत्कार्यम् । एवं पञ्चभिर्हेतुभिः प्रधाने महदादि लिङ्गमस्ति । तस्मात् सत उत्पत्तिर्नाऽसत इति ॥ ९ ॥

भाष्यानु०—"यह जो महत् आदि कार्य है क्या वह (अपने कारणभूत) प्रधान में सत् (पहले से विद्यमान) है ? अथवा असत् (अविद्यमान) है ?"

यह संशय आचार्यों के* वैमत्य के कारण हुआ । क्योंकि इस सांख्य दर्शन में कार्य को सत् माना जाता है और बौद्धादि दर्शन असत् मानते हैं । जो सत् है वह असत् नहीं हो सकता और असत् को सत् नहीं कह सकते, यह परस्पर विरोध होता है, इस पर कहते हैं—असद० जो सत् नहीं है उसे असत् कहते हैं । असत् को उत्पन्न नहीं किया जा सकता । इसलिये कार्य भी सत् है । इस लोक में भी असत् पदार्थ को उत्पन्न नहीं किया जा सकता, जैसे बालू से तेल नहीं निकल सकता (क्योंकि तेल बालू में सत्—पहले से विद्यमान—नहीं है) इसलिये

---

*यह वैमत्य चार प्रकार से है—

१, "असत् से सत् की उत्पत्ति होती है" यह बौद्धों का सिद्धान्त है, जैसे बीज विनष्ट होकर अंकुर या मृत्पिण्ड नष्ट होकर घट रूप में उत्पन्न होता है । २. "सब सत् ही है" यह अद्वैतवादियों का सिद्धान्त है । इनके मत से त्रैकालिक बाधरहित ब्रह्म ही सत् है, उसके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं । यह जगत् तो रज्जु में सर्प की भाँति विवर्तमात्र हैं । ३. "सत् से असत् की उत्पत्ति होती है" यह नैयायिकों तथा वैशेषिकों का सिद्धान्त है । सत् अर्थात् नित्य परमाणु से असत् अनित्य द्व्यणुकादि की उत्पत्ति होती है । ४. "सत् से सत् की उत्पत्ति होती है" यह सांख्यों का सिद्धान्त है जिसका विवेचन उक्त कारिका में किया गया है ।

चूंकि प्रधानसे महदादि व्यक्तकी उत्पत्ति होती है अतः वह (व्यक्त) उत्पत्ति से पूर्व ही अव्यक्त रूप में उस प्रधान में सत् (विद्यमान) था, वर्तमान में कार्य-रूप में है और विनष्ट होने पर कारण में ही लीन हो जायेगा इसलिये कार्य भी सत् ही है। और (सत्कार्यवाद का) दूसरा हेतु है—उपा० उपादान अर्थात् कारण, उसका ग्रहण करने से। लोक में भी देखा जाता है कि जिसे–जिस कार्य की आवश्यकता होती है वह उसी के कारण को ग्रहण करता है, जैसे दही चाहनेवाला दूध को ही जमायेगा जल को नहीं (क्योंकि दूध में अव्यक्तरूप से दही विद्यमान है, जलमें नहीं)। इसलिये कार्य सत् है। सर्व० सबकी सर्वत्र उत्पत्ति संभव नहीं है। जैसे सुवर्ण की उत्पत्ति चाँदी में, तृण, धूल या बालूमें नहीं हो सकती। इसलिये सबसे सब वस्तु न होने से भी यही सिद्ध होता है कि कार्य सत् है (अर्थात् अपने कारण में विद्यमान ही रहता है)। फिर भी—शक्तस्य० अर्थात् जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न कर सकता है उस कारण से वही कार्य उत्पन्न होता है जैसे कुम्हार समर्थ है मिट्टी, दण्ड, चीवर, रस्सी, जल आदि के द्वारा घड़े को बनाने में, और उन सहायक कारणों द्वारा वह मिट्टी से घड़ा ही बना सकता है। इससे भी सिद्ध है कि कार्य सत् है। फिर कारण० कारण जिस प्रकार का होता है कार्य भी वैसा ही होता है, जैसे जौ बोने से जौ ही उत्पन्न होते हैं और धान बोने से धान ही, यदि कार्य सत् न होता तो कोदों बोकर धान पैदा हो सकते, किन्तु होते नहीं। इसलिये यह सिद्ध है कि कार्य सत् है। इस प्रकार पाँच हेतुओं से यह सिद्ध हो गया कि प्रधान में महदादि अव्यक्त रूप से विद्यमान हैं। इसलिये यह भी सिद्ध हो गया कि सत् की ही उत्पत्ति होती है, असत् की नहीं॥ ९॥

[व्यक्त और अव्यक्तका वैधर्म्य]

[1]हेतुमदनित्यमव्यापि, सक्रियमनेकमाश्रितं, लिङ्गम्।
साऽवयवं, परतन्त्रं,—व्यक्तं, विपरीतमव्यक्तम्॥ ११॥

---

१. ८वीं कारिका में कहा था "महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिविरूपं सरूपं च" अर्थात् महत् से लेकर पृथ्वीपर्यन्त २३ उस प्रकृति के कार्य हैं जो उसके विरूप (असदृश रूपवाले) और सरूप (सदृश रूपवाले) भी हैं। जो विरूप है वह सरूप कैसे हो सकता है ? यह विरोध हुआ। इसका परिहार होता है कि कुछ

अन्वय—व्यक्तं, हेतुमत्, अनित्यम्, अव्यापि, सक्रियम्, अनेकम्, आश्रितं, लिङ्गं, सावयवं, परतन्त्रं (अस्ति), अव्यक्तं, विपरीतम् ।

अर्थ—व्यक्त (महदादि) हेतुवाला, अनित्य, अव्यापी, सक्रिय, अनेक, आश्रित, लिङ्ग, सावयव और परतन्त्र है, अव्यक्त इसके विपरीत (अर्थात् अहेतुमान्, नित्य, व्यापी, अक्रिय, एक, अनाश्रित, अलिङ्ग, निरवयव और स्वतंत्र) है।

भाष्यम्—'प्रकृतिविरूपं सरूपं च' (इति) यदुक्तं तत् कथमित्युच्यते-व्यक्तं महदादिकार्य–(१) हेतुमदिति । हेतुरस्यास्ति हेतुमत् उपादानं, हेतुः, कारणं, निमित्तमिति पर्यायाः । व्यक्तस्य प्रधानं हेतुरस्ति, अतो हेतुमद्व्यक्तं भूतपर्यन्तम् । हेतुमद्बुद्धितत्त्वं प्रधानेन, हेतुमानहङ्कारो बुद्ध्या, पंचतन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि हेतुमन्त्यहङ्कारेण । आकाशं शब्दतन्मात्रेण हेतुमत् । वायुः स्पर्शतन्मात्रेण हेतुमान् । तेजो रूपतन्मात्रेण हेतुमत् । आपो रसतन्मात्रेण हेतुमत्यः । पृथिवी गन्धतन्मात्रेण हेतुमती । एवं भूतपर्यन्तं व्यक्तं हेतुमत् । किञ्चान्यत्–(२) अनित्यम् । यस्मादन्यस्मादुत्पद्यते यथा–मृत्पिण्डादुत्पद्यते घटः, स चाऽनित्यः । किञ्च–(३) अव्यापि । असर्वगमित्यर्थः । यथा प्रधानपुरुषौ सर्वगतौ, नैवं व्यक्तं किंचान्यत्–(४) सक्रियं । संसारकाले संसरति । तस्मात् सक्रियम् । किंचान्यत्–(५) अनेकं । बुद्धिरहङ्कारः, तन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि, पञ्चमहाभूतानि चेति । किंचान्यत्–(६) आश्रितम् । स्वकारणमाश्रयते । प्रधानाश्रिता बुद्धिः, बुद्धिमाश्रितोऽहङ्कारः, अहङ्काराश्रितान्येकादशेन्द्रियाणि, पंचतन्मात्राणि च । पञ्चतन्मात्राश्रितानि पञ्चमहाभूतानि । किञ्च–(७) लिङ्गं–लययुक्तं । लयकाले पञ्चमहाभूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते । तान्येकादशेन्द्रियैः सहाहङ्कारे । स च बुद्धौ । सा च प्रधाने लयं यातीति । तथा–(८) सावयवम् । अवयवाः = शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः, तैः सह । किञ्च–(९) परतन्त्रं । नाऽऽत्मनः प्रभवति, यथा प्रधानतन्त्रा बुद्धिः, बुद्धितन्त्रोऽहङ्कारः, अहङ्कारतन्त्राणि तन्मात्राणीन्द्रियाणि च, तन्मात्रतन्त्राणि पञ्चमहाभूतानि च । एवं परतन्त्रं = परायत्तं । व्याख्यातं व्यक्तम् ।

अंशों में सरूप है कुछ में विरूप । किन अंशों में सारूप्य और वैरूप्य है ? इसके लिए भाष्यकार ने प्रतिज्ञा की थी कि—आगे इसे स्पष्ट करेंगे, वही प्रकृति का महदादि के साथ साधर्म्य और वैधर्म्य इन (१०, ११) दो कारिकाओं में क्रमशः दिखाया गया है ।

अथोऽव्यक्तं व्याख्यास्यामः। विपरीतमव्यक्तम्। एतैरेव गुणैर्यथोक्तैर्विपरीतमव्यक्तं। हेतुमद् व्यक्तमुक्तम्। न हि प्रधानात् परं किञ्चिदस्ति, अतः प्रधानस्यानुत्पत्तिः, तस्माद् (१) अहेतुमदव्यक्तम्। तथा-(२) अनित्यं च व्यक्तं, नित्यमव्यक्तमनुत्पाद्यत्वात्। नहि भूतानीव कुतश्चिदुत्पद्यत इत्यव्यक्तं प्रधानं (नित्यं) किंचाव्यापि व्यक्तं, (३) व्यापि प्रधानं, सर्वगतत्वात्। सक्रियं व्यक्तम् (४) अक्रियमव्यक्तं, सर्वगतत्वादेव। तथानेकं व्यक्तम्, (५) एकं प्रधानं, कारणत्वात्। त्रयाणां लोकानां प्रधानमेकं कारणं; तस्मादेकं प्रधानम्। तथाश्रितं व्यक्तम्, (६) अनाश्रितमव्यक्तमकार्यत्वात्, न हि प्रधानात् किञ्चिदस्ति परं, यस्य प्रधानं कार्यं स्यात्। तथा व्यक्तं लिङ्गम्, (७) अलिङ्गमव्यक्तं, नित्यत्वात्। महदादिलिङ्गं प्रलयकाले परस्परं प्रलीयते, नैवं प्रधानं, तस्मादलिङ्गं प्रधानम्। तथा सावयवं व्यक्तं (८) निरवयवमव्यक्तं। न हि शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः प्रधाने सन्ति। तथा परतन्त्रं व्यक्तं, (९) स्वतन्त्रमव्यक्तं, प्रभवत्यात्मनः ॥१०॥

भाष्यानु०—प्रकृति के विरूप और सरूप है, यह जो कहा था वह कैसे? इस प्रश्न पर कहते हैं—व्यक्त अर्थात् महदादि (१) हेतुमत्=हेतु (कारण) वाला है। हेतु जिसका होता है उसे हेतुमान् कहते हैं। उपादान, हेतु, कारण, निमित्त आदि इसके पर्याय हैं। व्यक्त का हेतु (कारण) प्रधान (प्रकृति) है अतः व्यक्त (महत् से आकाशादि महाभूत पर्यन्त) हेतुमान् है। (इसी को स्पष्ट करते हैं—) बुद्धितत्त्व (महत्) प्रधान (प्रकृति) से हेतुमान् है (क्योंकि प्रकृति से महत् की उत्पत्ति होती है)। अहङ्कार बुद्धि से हेतुमान् है (अहङ्कार बुद्धि से उत्पन्न होता है)। पञ्चतन्मात्रा तथा एकादश इन्द्रियाँ अहंकार से हेतुमान् हैं। (इनकी उत्पत्ति का कारण अहंकार है)। आकाश शब्दतन्मात्रा से हेतुमान् है (आकाशका कारण शब्दतन्मात्रा है)। वायु स्पर्शतन्मात्रा से हेतुमान् है। (वायु की उत्पत्ति स्पर्शतन्मात्रा से होती है)। तेज रूपतन्मात्रा से हेतुमान् है (क्योंकि तेज की उत्पत्ति रूपतन्मात्रा से होती है)। जल रसतन्मात्रा से हेतुवाली है क्योंकि जलोंकी उत्पत्ति रसतन्मात्रा से होती है)। पृथिवी गन्धतन्मात्रा से हेतुमती है (क्योंकि पृथिवी की उत्पत्ति गन्धतन्मात्रा से है)। इस प्रकार महत् से लेकर आकाशादि महाभूतपर्यंत सारा व्यक्त समुदाय हेतुमत् (उत्पत्तिवाला) है। और भी (२) **अनित्यम्—** अनित्य है। क्योंकि दूसरे से (अपने कारणभूत अन्य तत्त्व से यह व्यक्त) उत्पन्न

होता है, (जो उत्पन्न होता है वह अनित्य होता है जैसे) मृत्पिण्ड से घट उत्पन्न होता है और वह अनित्य है। और (यह व्यक्त) (३) अव्यापि—सर्वत्र न रहनेवाला है, जैसे प्रधान और पुरुष सर्वत्र व्याप्त रहते हैं वैसे यह व्यक्त सर्वत्र नहीं रहता। और दूसरे यह (४) सक्रियं—क्रियाशील है, अर्थात् संसार में जन्ममरणरूप से संसरण करता है। तेरह तत्त्वों से युक्त सूक्ष्म शरीर को लेकर उत्पन्न और विनष्ट होता रहता है, इसलिये क्रियाशील है। और (यह) (५) अनेकं-अनेक है। बुद्धि, अहंकार ११ इन्द्रियाँ, ५ तन्मात्राएँ, ५ महाभूत, (इस प्रकार ये २३ हैं) (६) आश्रितम्—(अपने-अपने कारण के) आश्रित रहता है, बुद्धि प्रधान के आश्रित रहती हैं, अहंकार बुद्धि के आश्रित रहता है, ग्यारह इन्द्रियाँ व ५ तन्मात्राएँ अहंकार के आश्रित रहते हैं ५ महाभूत (आकाशादि) क्रम से ५ तन्मात्राओं के आश्रित रहते हैं। (७) लिङ्गम्—लययुक्त है, जब लय होने का समय आता है तब ५ महाभूत ५ तन्मात्राओं में लय हो जाते हैं, वे तन्मात्राएँ ११ इन्द्रियों सहित अहङ्कार में लीन हो जाती हैं, अहंकार बुद्धि में और बुद्धि प्रधान में लीन हो जाती है। तथा (८) सावयवम्—अवयवों से युक्त है। शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध ये अवयव हैं, इनसे युक्त है। और (९) परतन्त्रं—पराधीन है, जो दूसरे के आधीन होता है वह स्वयं कुछ नहीं कर सकता, जैसे बुद्धि प्रधान के आधीन है, अहंकार बुद्धि के आधीन है, ११ इन्द्रियाँ तथा ५ तन्मात्राएँ अहंकार के आधीन हैं और ५ महाभूत ५ तन्मात्राओं के आधीन हैं, इस प्रकार व्यक्त परतन्त्र-पराधीन है, इसकी व्याख्या हो चुकी। अब अव्यक्त (प्रधान=प्रकृति) की व्याख्या करेंगे—विपरीतं०—ऊपर व्यक्त के जो गुण कहे गये हैं उनसे विपरीत अव्यक्त है। जैसे व्यक्त को हेतुमत् (कारण=उत्पत्तिवाला) कहा गया है वैसे प्रधान (अव्यक्त) से अन्यत्र कोई है ही नहीं जिससे उसकी उत्पत्ति मानी जाय, इसलिये (व्यक्त हेतुमत् था तो) अव्यक्त (१) अहेतुमत् है। और व्यक्त अनित्य है (उत्पत्तिमान् होने से) किन्तु अव्यक्त (२) नित्य है क्योंकि भूतादि की तरह वह किसी से उत्पन्न नहीं होता[1]। और व्यक्त अव्यापी है किन्तु प्रधान (३) व्यापी है क्योंकि सर्वगत है। व्यक्त सक्रिय=क्रियाशील है किन्तु अव्यक्त (४) अक्रिय है क्योंकि सर्वगत होनेसे ही (उसमें क्रियाशीलता अपेक्षित नहीं है)। तथा व्यक्त अनेक (२३) हैं किन्तु अव्यक्त (५) एक ही है, कारण होने से। तीनों लोकों का कारणभूत प्रधान (अव्यक्त) ही हैं इसलिये वह एक है। व्यक्त (अपने-अपने

---

१. जो उत्पन्न होता है वह अनित्य होता है, यह पहले बता चुके हैं।

कारण के) आश्रित रहता है किन्तु अव्यक्त किसी के (६) आश्रित नहीं रहता क्योंकि वह किसी का कार्य नहीं है। प्रधान से दूसरा कोई ऐसा है ही नहीं जिसका कार्य प्रधान को माना जा सके[१]। तथा व्यक्त लिंग है (व्यक्त का लय होता है) किन्तु अव्यक्त (७) अलिङ्ग है। महदादि प्रलय काल में अपने-अपने कारण में लीन हो जाते हैं परन्तु प्रधान का लय नहीं होता क्योंकि उसका कोई कारण ही नहीं हैं, इसलिये प्रधान अलिङ्ग है। और व्यक्त सावयव है अव्यक्त (८) निरवयव है—शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध ये अवयव प्रधान में नहीं होते हैं। व्यक्त परतन्त्र (अपने कारण के अधीन) होता है किन्तु अव्यक्त (९) स्वतन्त्र है, किसी के अधीन नहीं रहता स्वयं अपने समर्थ होता है ॥१०॥

[व्यक्त और अव्यक्त का साधर्म्य, तथा पुरुष से वैधर्म्य]

त्रिगुणमविवेकि, विषयः, सामान्यमचेतनं, प्रसवधर्मि।
व्यक्तं, तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११॥

अन्वय—व्यक्तं, तथा, प्रधानं, त्रिगुणम्, अविवेकि, विषयः, सामान्यम्, अचेतनं, प्रसवधर्मि, तथा च, पुमान्, तद्विपरीतः।

अर्थ—व्यक्त और प्रधान (ये दोनों) त्रिगुण हैं, अविवेकी हैं (जिसकी पृथक्ता का विवेचन नहीं किया जा सकता) विषय (सबका उपभोग्य), सामान्य, अचेतन, प्रसवधर्मि (उत्पन्न करने के स्वभाव वाला) है किन्तु पुरुष इनसे विपरीत (अर्थात् अगुण, विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन और अप्रसवधर्मी) है और (अव्यक्त के) समान धर्मोंवाला (अहेतुमत्, नित्य आदि १०वीं कारिका में वर्णित) भी है ॥११॥

भाष्यम्—एवं व्यक्ताऽव्यक्तयोर्वैधर्म्यमुक्तं, साधर्म्यमुच्यते। यदुक्तं—'सरूपं च'। (१) त्रिगुणं व्यक्तं, सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणा यस्येति (२) अविवेकि व्यक्तं न विवेकोऽस्यास्तीति। इदं व्यक्तमिमे गुणा इति न विवेकं कर्तुं

---

१. यद्यपि पुरुष भी प्रधान के अतिरिक्त एक तत्त्व है किन्तु उसे प्रधान का कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि वह अप्रसवधर्मी है, जिसे अगली कारिका में स्पष्ट करेंगे। दूसरी बात यह है कि यदि प्रधान का कोई कारण माना जाय तो फिर उस कारण का भी कोई कारण और उसका भी कोई कारण मानना पड़ेगा इससे अनवस्था दोष आ जायगा, इसलिये प्रधान का कोई कारण नहीं है।

याति । इयं गौरयमश्व इति यथा । ये गुणास्तद्व्यक्तं, यद्व्यक्तं ते च गुणा इति । तथा–(३) विषयो व्यक्तं, भोग्यमित्यर्थः । सर्वपुरुषाणां विषयभूतत्वात् । तथा–(४) सामान्यं व्यक्तं, मूल्यदासीवत् सर्वसाधारणत्वात् । (५) अचेतनं व्यक्तं, सुखदुःखमोहान्न चेतयतीत्यर्थः । तथा—(६) प्रसवधर्मि व्यक्तम् । तद्यथा—बुद्धेरहङ्कारः प्रसूयते, तस्मात् पञ्चतन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि च प्रसूयन्ते, तन्मात्रेभ्यः–पञ्चमहाभूतानि । एवमेते व्यक्तधर्माः प्रसवधर्मान्ता उक्ताः एवमेभिरव्यक्तं सरूपं, यथा व्यक्तं तथा प्रधानमिति । तत्र (१) त्रिगुणं व्यक्तमव्यक्तमपि त्रिगुणं, यस्यैतन्महदादिकार्यं त्रिगुणम् । इह यदात्मकं कारणं तदात्मकं कार्यमिति । यथा कृष्णतन्तुकृतः कृष्ण एव पटो भवति । तथा–(२) अविवेकि व्यक्तं, प्रधानमपि गुणैर्न भिद्यते, अन्ये गुणाः, अन्यत् प्रधानमेवं विवेकं याति । तद् अविवेकि प्रधानम् । तथा (३) विषयो व्यक्तं, प्रधानमपि सर्वपुरुषविषयभूतत्वाद् विषय इति । तथा (४) सामान्यं व्यक्तं, प्रधानमपि सर्वसाधारणत्वात् । तथा (५) अचेतनं व्यक्तं, प्रधानमपि, सुखदुःखमोहान्न चेतयतीति । कथमनुमीयते ? इह ह्यचेतनान्मृत्पिण्डादचेतनो घट उत्पद्यते । तथा—(६) प्रसवधर्मि व्यक्तं, प्रधानमपि प्रसवधर्मि । यतः प्रधानाद् बुद्धिरुत्पद्यते । एवं प्रधानमपि व्याख्यातम् । इदानीं तद्विपरीतस्तथा च पुमानित्येतद् व्याख्यायते । तद्विपरीतः । ताभ्यां = व्यक्ताव्यक्ताभ्यां विपरीतः—पुमान् । तद्यथा—(१) त्रिगुणं व्यक्तमव्यक्तं च, अगुणः पुरुषः । (२) अविवेकि व्यक्तमव्यक्तं च, विवेकी पुरुषः । तथा (३) विषयो व्यक्तमव्यक्त च, 'अविषयः पुरुषः । तथा (४) सामान्यं व्यक्तमव्यक्तं च, असामान्य पुरुषः । (५) अचेतनं व्यक्तव्यक्तं च, चेतनः पुरुषः । सुखदुःखमोहांश्चेतयति = सञ्जानीते तस्माच्चेतनः पुरुष इति । (६) प्रसवधर्मि व्यक्तं, प्रधानं च, अप्रसवधर्मी पुरुषः । न हि किञ्चित् पुरुषात् प्रसूयते । तस्माद्युक्तं तद्विपरीतः पुमानिति । तदुक्तं—'तथा च पुमान्' इति । यत् पूर्वस्यामार्यायां प्रधानमहेतुमद्यथा व्याख्यातं तथा च पुमान् । तद्यथा हेतुमदनित्यमित्यादि व्यक्तं, तद्विपरीतमव्यक्तं, तत्र हेतुमद्व्यक्तमहेतुमत् प्रधानं, तथा च पुमान्, अहेतुमान् अनुत्पाद्यत्वात् । अनित्य व्यक्तं, नित्य प्रधानं, तथा च नित्यः पुमान् । अव्यापि व्यक्तं, व्यापि प्रधानम्; तथा च व्यापी पुमान्, सर्वगतत्वात् । सक्रियं व्यक्तमक्रियं प्रधानम्, तथा च पुमानक्रियः सर्वगतत्वादेव । अनेकं व्यक्तमेकमव्यक्तं, तथा च पुमानप्येकः । आश्रितं व्यक्तमनाश्रितमव्यक्तं, तथा पुमाननाश्रितः लिङ्गं व्यक्तमलिङ्गं

प्रधानं, तथा पुमानप्यलिङ्गः न क्वचिल्लीयत इति। सावयवं व्यक्तं, निरवयवमव्यक्तं, तथा च पुमान् निरवयवः, न हि पुरुषे शब्दादयोऽवयवाः सन्ति। किञ्च परतन्त्रं व्यक्तं, स्वतंत्रमव्यक्तं, तथा च पुमानपि स्वतंत्रः आत्मनः प्रभवतीत्यर्थः ॥११॥

भाष्यानु०—इस प्रकार व्यक्त और अव्यक्त का वैधर्म्य (विरूपता) कहा गया। अब साधर्म्य कहा जा रहा है, जैसा कि (८ वीं कारिका में) कहा था प्रकृति के विरूप भी है और सरूप भी। व्यक्त (महदादि) (१) त्रिगुण है। (त्रिगुण का तात्पर्य है) सत्त्व रज तम ये तीन गुण हैं जिसके, इसी प्रकार व्यक्त (२) अविवेकी है (अर्थात्) जिसका विवेक नहीं होता, (भाव यह है कि) ये गुण हैं और यह व्यक्त है ऐसा (पृथक्) विवेचन नहीं किया जा सकता–जैसे यह गाय है और यह घोड़ा। (क्योंकि) जो व्यक्त हैं वे ही गुण हैं और जो गुण हैं वही व्यक्त है। और व्यक्त (३) विषय है। विषय का अर्थ है सवके द्वारा उपभोगके योग्य, क्योंकि यह समस्त व्यक्तियोंका विषयभूत है। व्यक्त (४) सामान्य है। जैसे वेश्या जो रुपया दे सके उसकी हो जाती है इसी प्रकार यह भी सर्वसाधारण का उपभोग है। व्यक्त (५) अचेतन = (जड़) भी है। सुख; दुःख और मोहको प्रकाशित नहीं कर सकता। यह व्यक्त (६) प्रसवधर्मि = (उत्पन्न करने के स्वभाववाला) है, जैसे बुद्धि से अहङ्कार उत्पन्न होता है, अहङ्कार से ११ इन्द्रियाँ और ५ तन्मात्राएँ उत्पन्न होती है, तन्मात्राओंसे ५ महाभूत आकाशादि उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार (त्रिगुणसे लेकर) प्रसवधर्मि पर्यन्त व्यक्तके धर्म कहे गये हैं ऐसे हि इन धर्मोंसे अव्यक्त (प्रधान) भी युक्त है अर्थात् ये धर्म जैसे व्यक्तमें हैं वैसे ही प्रधान में भी हैं। जैसे कहा है व्यक्त त्रिगुण है ऐसे ही अव्यक्त भी त्रिगुण है। महदादि (व्यक्त) जिस प्रधान का कार्य है वह अवश्य ही त्रिगुण होगा क्योंकि कारण के गुण ही कार्य में आते हैं। जैसे काले सूत से बुना कपड़ा काला ही होता है। व्यक्त अविवेकी है (गुणों से पृथक् रूप में उसका विवेचन नहीं किया जा सकता) ऐसे ही प्रधान भी गुणों (सत्त्व रज तम) से भिन्न नहीं होता। गुण अलग हैं प्रधान अलग है, यह नहीं कहा जा सकता, आदि। अतः प्रधान भी अविवेकी है। व्यक्त विषय है, प्रधान भी सब पुरुषों के उपभोग योग्य होंने से विपय है। व्यक्त सामान्य है, प्रधान भी सर्वसाधारण होने से सामान्य ही है। व्यक्त अचेतन (जड़) है, प्रधान भी अचेतन ही है सुख दुःख मोहोंको प्रकट नहीं कर

सकता। (प्रश्न) यह आप कैसे अनुमान करते हैं। (उत्तर) क्योंकि अचेतन मृत्पिण्ड से अचेतन ही घट भी उत्पन्न होता है।[1]

व्यक्त प्रसवधर्मी (अन्य तत्त्वको उत्पन्न करने के स्वभाववाला) हैं, प्रधान भी प्रसवधर्मी है क्योंकि प्रधान से ही बुद्धि उत्पन्न होती है इस प्रकार प्रधान की भी व्याख्या हो गई। अब तद्विपरीत० पुरुष उनसे विपरीत होता है, इस अंशकी व्याख्या करेंगे। तद्विपरीत का अर्थ है उन दोनों—व्यक्त और अव्यक्त से पुरुष विपरीत होता है। जैसे—व्यक्त और अव्यक्त त्रिगुण होते हैं किन्तु पुरुष अगुण होता है। व्यक्त-अव्यक्त अविवेकी होते हैं पुरुष विवेकी होता है।[2] व्यक्त और अव्यक्त विषय हैं (साधारण होने से) किन्तु पुरुष अविषय है (असाधारण होने से)। व्यक्त और अव्यक्त सामान्य हैं किन्तु पुरुष असामान्य है। व्यक्त-अव्यक्त अचेतन हैं, पुरुष चेतन है। सुख-दुःख-मोह का प्रकाश कर सकता है इसलिये पुरुष चेतन है। व्यक्त और प्रधान प्रसवधर्मी हैं (दूसरे तत्त्वोंको उत्पन्न करते हैं) किन्तु पुरुष अप्रसवधर्मी है क्योंकि उससे कोई भी तत्त्व उत्पन्न नहीं होता। अब जो कहा है "तथा च पुमान्" इसमें तथा च–का अर्थ है उसी प्रकार, अर्थात् जैसे दशवी कारिकामें व्यक्तसे प्रधानका भेद किया गया है कि व्यक्त हेतुमत् है और प्रधान अहेतुमत् है वैसे ही पुरुष भी है। जैसे कि व्यक्त हेतुमद् अनित्य इत्यादि है और उसके विपरीत प्रधान (अव्यक्त) अहेतुमद् नित्य इत्यादि है वैसे ही पुरुष भी अहेतुमत् नित्य इत्यादि है (अर्थात् ये धर्म दोनों—प्रधान और पुरुष में समान हैं इसी को स्पष्ट करते हैं—) व्यक्त हेतुमद् (कारण से जन्य) है किन्तु प्रधान उसके विपरीत अर्थात् अहेतुमत् है वैसे ही पुरुष भी अहेतुमद् है। व्यक्त अनित्य है प्रधान उसके विपरीत अर्थात् नित्य है वैसे ही पुरुष भी नित्य है। व्यक्त अव्यापी है प्रधान व्यापी है वैसे पुरुष भी व्यापी है क्योंकि सर्वगत है। व्यक्त सक्रिय है प्रधान अक्रिय है, वैसे ही सर्वगत होनेसे ही पुरुष भी अक्रिय है। व्यक्त अनेक हैं,

---

१. यदि प्रधान सचेतन होता तो अचेतन मृत्पिण्डसे सचेतन घटकी उत्पत्ति हो सकती। तात्पर्य यह है कि व्यक्त और अव्यक्त दोनों जड़ हैं, चेतन तो केवल पुरुष है और पुरुष के संयोग से ही प्रधान में भी चेतना की प्रतीति होती है, यह आगे स्पष्ट करेंगे।

२. अर्थात् महदादि प्रधान से भिन्न नहीं होते अतः उनका पृथक विवेचन नहीं किया जा सकता, किन्तु पुरुष प्रधान से भिन्न होता है।

प्रधान एक है वैसे ही पुरुष भी एक है। व्यक्त (अपने कारण के) आश्रित है, प्रधान अनाश्रित है वैसे ही पुरुष भी अनाश्रित है (क्योंकि उनका भी कोई कारण नहीं वह जिसके आश्रित रहे)। व्यक्त लिङ्ग (लयशील) है, प्रधान अलिङ्ग है वैसे ही पुरुष भी अलिङ्ग है (कारण न होने से) वह किसी में लीन नहीं होता है। व्यक्त सावयव है प्रधान निरवयव है वैसे ही पुरुष भी निरवयव है। पुरुष में भी शब्दस्पर्शादि अवयव नहीं हैं। व्यक्त परतन्त्र है प्रधान स्वतन्त्र है वैसे ही पुरुष भी स्वतन्त्र-अपने से समर्थ है, यह तात्पर्य है ॥ ११ ॥

[गुणों का स्वरूपनिरूपण]

प्रीत्यप्रीति-विषादात्मकाः, प्रकाश-प्रवृत्ति-नियमार्थाः।
अन्योऽन्याऽभिभवा-ऽऽश्रय-जनन-मिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥ १२ ॥

अन्वय—**गुणाः, प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाश-प्रवृत्ति-नियमार्थाः, अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च।**

अर्थ—गुण (सत्त्व रज तम) क्रम से प्रीति, अप्रीति और विषादात्मक होते हैं; प्रकाश, प्रवृत्ति और नियमन करने वाले हैं; ये परस्पर एक दूसरे का अभिभव, आश्रय, जनन और मिथुनवृत्तिवाले हैं ॥ १२ ॥

भाष्यम्—**एवमेतदव्यक्तपुरुषयोः साधर्म्यं व्याख्यातं पूर्वस्यामार्यायाम्। व्यक्तप्रधानयोः साधर्म्यं पुरुषस्य वैधर्म्यं च 'त्रिगुणमविवेकी'त्यादि प्रकृताऽऽर्यायां व्याख्यातम्। तत्र यदुक्तं—'त्रिगुण'मिति' व्यक्तमव्यक्तं च। तत् के ते गुणा इति? तत्स्वरूपप्रतिपादनायेदमाह प्रीत्यात्मका, अप्रीत्यात्मका, विषादात्मकाश्च गुणाः = सत्त्वरजस्तमांसीत्यर्थः। तत्र प्रीत्यात्मकं सत्त्वम्। प्रीतिः = सुखं, तदात्मकमिति। अप्रीत्यात्मकं रजः। अप्रीतिर्दुःखम्। विषादात्मकं तमः। विषादो मोहः। तथा प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः। अर्थशब्दः—सामर्थ्यवाची। प्रकाशार्थं सत्त्वं, प्रकाशसमर्थमित्यर्थः। प्रवृत्यर्थं—रजः। नियमार्थं तमः, स्थितौ समर्थमित्यर्थः। प्रकाश-क्रिया-स्थितिशीला गुणा इति। तथा अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च। अन्योऽन्याभिभवाः। अन्योऽन्याश्रयाः, अन्यान्यजनना अन्योन्यमिथुनाः अन्योऽन्यवृत्तयश्च ते तथोक्ताः। अन्योऽन्याभिभवा इति। अन्योऽन्यं परस्परमभिभवन्तीति, प्रीत्यप्रीत्यादिभिर्धर्मैरभिभवन्ति। यथा यदा सत्त्वमुत्कटं भवति, तदा-रजस्तमसी अभिभूय, स्वगुणेन प्रीतिप्रकाशात्मकेनावतिष्ठते। यदा रजस्तदा**

सत्त्वतमसी अप्रीतिप्रवृत्यात्मना धर्मेण । यदा तमस्तदा सत्त्वरजसी विषादस्थित्यात्मकेन इति—तथाऽन्योन्याश्रयाश्च द्वयणुकवद् गुणाः । अन्योऽन्यजननाः यथा मृत्पिण्डो घटं जनयति । तथा अन्योऽन्यमिथुनाश्च यथा स्त्रीपुंसौ अन्योन्यमिथुनौ तथा गुणाः । उक्तं च—

"अन्योऽन्यमिथुनाः सर्वे, सर्वे सर्वत्र गामिनः ।
रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः ॥
तमसश्चापि मिथुने ते सत्त्वरजसी उभे ।
उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते ॥
नैषामादिः सम्प्रयोगो, वियोगो वोपलभ्यते ।"

परस्परसहाया इत्यर्थः । अन्योऽन्यवृत्तयश्च । परस्परं वर्तंते, गुणाः, गुणेषु वर्तन्ते' इसि वचनात् । यथा सुरूपा सुशीला स्त्री (पत्युः) सर्वसुखहेतुः, सपत्नीनां सैव दुःखहेतुः, सैव रागिणां मोहं जनयति । एवं सत्त्वं रजस्तमसोर्वृत्तिहेतुः । यथा राजा सदोद्युक्तः प्रजापालने, दुष्टनिग्रहेण शिष्टानां सुखमुत्पादयति, दुष्टानां दुःखं मोहं च । एवं रजः—सत्त्वतमसोर्वृत्ति जनयति । तथा तमः—स्वरूपेणवरणात्मकेन सत्त्वरजसोर्वृत्ति जनयति । यथा—मेघाः खमावृत्य जगतः सुखमुत्पादयन्ति, ते वृष्टचा कर्षकाणां कर्षणोद्योगं जनयन्ति, विरहिणां मोहम् । एवमन्योऽन्यवृत्तयो गुणाः ॥१२॥

भाष्यानु०—इसी प्रकार पूर्व (१० वीं) आर्या में अव्यक्त (प्रधान) और पुरुष के साधर्म्य की व्याख्या की गई थी और इस (११ वीं) आर्या में व्यक्त और प्रधान का साधर्म्य तथा पुरुष का वैधर्म्य-त्रिगुणम् अविवेकि आदि कहकर व्याख्या की गई । इसमें जो व्यक्त और अव्यक्त दोनों त्रिगुण हैं । ऐसा कहा था उसमें (शंका होती है कि) वे गुण कौन हैं ? उनका स्वरूप विवेचन करने के लिये कहते हैं—प्रीत्या० गुण अर्थात् सत्त्व, रज, तम (क्रम से) प्रीत्यात्मक, अप्रीत्यात्मक और विषादात्मक होते हैं । उनमें सत्त्व प्रीत्यात्मक होता है । प्रीति का अर्थ है सुख या प्रसन्नता, तदात्मक अर्थात् तत्स्वरूप । अप्रीत्यात्मक रजोगुण होता है । अप्रीति अर्थात् दुःख, तत्स्वरूप । विषादात्मक तमोगुण होता है । विषाद का अर्थ है मोह । तथा प्रकाश०—अर्थ शब्द यहाँ सामर्थ्य का वाचक है (अर्थात् सत्त्वादि गुणों से क्रम से प्रकाशादि की सामर्थ्य होती है) । प्रकाश की सामर्थ्य वाला सत्त्व गुण होता है, प्रवृत्ति की सामर्थ्य वाला

रजोगुण होता है नियम की (रोकने की) सामर्थ्यवाला तमोगुण होता है। प्रकाश प्रवृत्ति और स्थितिरूप स्वभाववाले गुण होते हैं। यह भाव है।[1]

अन्योन्या०—ये गुण अन्योन्याभिभव अन्योन्याश्रय अन्योन्यजनन अन्यो-न्यमिथुन और अन्योन्यवृत्ति होते हैं। अन्योन्याभिभव का यह अर्थ हैं—परस्पर (अन्योन्य) एक दूसरे के गुणों को अभिभूत कर देता है (दवा देता है)। प्रीति, अप्रीति और विषाद इन धर्मों से प्रकट होते हैं। जब सत्त्व गुण उत्कट होता है तब रजोगुण और तमोगुण को दवाकर वह प्रीति और प्रकाश स्वरूप से रहता है। जब रजोगुण उत्कट होता है तब वह सत्त्व और तम को दवाकर अप्रीति (दुःख) और प्रवृत्ति इन धर्मों से प्रकट होता है[2]। जब तमोगुण उत्कट होता है तब सत्त्व और रजोगुण को दबाकर विषाद (मोह) और स्थिति (नियंत्रण-रोकना) स्वरूप होता है[3]। तथा ये गुण द्वचणुक की तरह अन्योन्य (एक दूसरे के) आश्रित रहते हैं [तात्पर्य यह है कि जैसे दो परमाणु मिलकर एक द्वचणुक होता है उस द्वचणुक के वे दोनों परमाणु एक दूसरे के आश्रयवाले हैं। क्योंकि उनमें से एक भी पृथक् हो जायगा तो वह द्वचणुक नहीं रह जायगा और किसी एक से ही वह बना है ऐसा नहीं कहा जा सकता, इसी प्रकार ये गुण भी परस्पर आश्रित रहते हैं। सत्त्व और नियम के आश्रय से प्रकाश करता है। रजः प्रकाश और नियम के आश्रय से प्रवृत्त करता है तथा तम प्रकाश और प्रवृत्ति के आश्रय से रोकता है]। ये गुण अन्योन्यजनन—एक दूसरे को उत्पन्न

---

१. प्रकाश का अर्थ है विभिन्न प्रकार के कार्य करने का ज्ञान, प्रवृत्ति का अर्थ है विभिन्न कार्यों को करने की रुचि और नियम का अर्थ है ज्ञान और रुचि का नियंत्रण अर्थात् उसे रोक देना। तात्पर्य यह है कि सत्त्वगुण से कार्यों का ज्ञान होता है, रजोगुण से कार्य करने की इच्छा होती है और तमोगुण से ज्ञान और प्रवृत्ति रुक जाते हैं, यही गुणों का स्वरूप है।

२. अर्थात् रजोगुण की अधिकता होने पर विभिन्न कार्यो को करने की प्रवृत्ति होती है और दुःख होता है। किसी भी कार्य को करने में कष्ट होना स्वभाविक है।

३. अर्थात् तमोगुण की वृद्धि होने पर मोह हो जाता है। कार्यों का ज्ञान और करने की प्रवृत्ति–दोनों रुक जाते हैं, यही उसका स्वरूप है।

करनेवाले भी हैं, जैसे मृत्पिड घट को उत्पन्न करता है[१]। ये (गुण) अन्योन्य-मिथुन—एक दूसरे के साथ रहनेवाले हैं। जैसे स्त्री-पुरुष एक दूसरे के साथ रहनेवाले हैं। जैसे स्त्री-पुरुष एक दूसरे के सहचर होते हैं ऐसे ही गुण भी। [अर्थात् जैसे स्त्री-पुरुष जब परस्पर एक दूसरे के सहायक होकर साथ-साथ रहते हैं, तब संसार चलता है, उसी प्रकार गुण भी जब एक दूसरे के सहायक होकर रहते हैं तभी सृष्टि का कार्य चलता है] कहा भी है—(देवी भागवत में) "ये सब एक दूसरे के साथ रहने वाले हैं, सब सर्वत्र जानेवाले हैं। रज के साथ सत्त्व रहता है, सत्त्व के साथ रज रहता है। तम भी सत्त्व और रज के साथ रहता है। कभी सत्त्व-रजस् दोनों तम के साथ रहते हैं। इनका न तो कभी आदि संप्रयोग (अप्राप्तिपूर्वक प्राप्त्यात्मक संगोग) होता है और न वियोग (संयोगनाशानुकूल धर्म) ही होता है।" ये परस्पर एक दूसरे के सहायक हैं—यह अर्थ है। ये गुण अन्योन्यवृत्ति एक दूसरे में रहनेवाले भी हैं। "गुण गुणों में रहते हैं" इस प्रमाण से (यह सिद्ध हैं।) जैसे एक सुन्दर सुशीला स्त्री अपने सौन्दर्य से सबको आनन्दित करती है किन्तु वही अपनी सौतों के लिये दुःखदायिनी हो जाती हैं और उन व्यक्तियों के लिए, जो कि उसे चाहते हैं किन्तु प्राप्त नहीं कर सकते, वही मोह उत्पन्न करनेवाली होती है[२]। इस प्रकार सत्त्वगुण रजस् और तमस् की वृत्ति का हेतु है। जैसे प्रजापालन में सदा उद्यत राजा दुष्टों का निग्रह करके सज्जनों को सुखी करता है, वही उन दण्डार्ह दुष्टों के लिये दुःख और मोह का जनक होता है, इस प्रकार रजोगुण सत्त्व और तमस् की वृत्ति का जनक है। इसी प्रकार तमोगुण भी अपने आवरणात्मक (ढकने के स्वरूपवाले) स्वरूप से सत्त्व और रजस् की वृत्ति को उत्पन्न करता है। जैसे मेघ आकाश को आच्छादित कर जगत् को सुखी करते हैं, कृषि सम्बन्धी उद्योग में प्रवृत्त करते हैं और विरहियों को मोहावृत कर देते हैं। इस प्रकार ये गुण भी अन्योन्यवृत्ति हैं॥ १२॥

---

१. यहाँ जनन से सादृश्यरूप परिणाम ही लिया जायगा आरम्भरूप नहीं। क्योंकि सांख्यमत में कार्य भी जब सत् है तो उसका आरम्भ कैसे होगा ?

२. आनन्दित करना सत्त्व का धर्म, दुःख देना रजस् का धर्म, मोहजनकता तम का धर्म उस एक ही सुन्दरी में रहता है किन्तु अधिक व्यक्ति उससे आह्लादित होते हैं अतः अधिकता सत्त्व की होती।

सत्त्वं लघु, प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं, चलञ्च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः, प्रदीपवच्चाऽर्थतो वृत्तिः॥ १३॥

अन्वय—सत्त्वं, लघु, प्रकाशकम्, इष्टम्, रजः, उपष्टम्भकं; चलं च तमः, गुरु, वरणकम्, एव, प्रदीपवत्, च, अर्थतः वृत्तिः।

अर्थ—सत्त्व गुण लघु (हलका), प्रकाशक (ज्ञान करानेवाला) तथा प्रिय होता है। रजोगुण उत्तेजक और चंचल (क्रियाशील) होता है। तमोगुण गुरु (भारी) और आवरक होता है। दीपक की भाँति पुरुषार्थ साधनों के लिये इनका व्यवहार है।

भाष्यम्—सत्त्व–लघु, प्रकाशकं च। यदा सत्त्वमुत्कटं भवति, तदा लघून्यङ्गानि, बुद्धिप्रकाशश्च, प्रसन्नतेन्द्रियाणां भवति। उपष्टम्भकं चलं च रजः। उपष्टभ्नातीत्युपष्टम्भकम् = उद्द्योतकं। यथा वृषो वृषदर्शनेन उत्कटमुपष्टम्भं करोति, एवं रजोवृत्तिः। तथा रजश्च चलं दृष्टं। रजोवृत्तिश्चलचित्तो भवति। गुरु वरणकमेव तमः। यदा तम उत्कटं भवति गुरूण्यङ्गानि, आवृतानीन्द्रियाणि भवन्ति स्वार्थाऽसमर्थानि। अत्राह—यदि गुणाः परस्परं विरुद्धाः तर्हि कथं स्वमतेनैकमर्थं निष्पादयन्ति? प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः। प्रदीपेन तुल्यं–प्रदीपवत्, अर्थतः = अर्थसाधनाय वृत्तिरिष्टा। यथा प्रदीपः परस्परविरुद्धतैलाग्निवर्तिसंयोगादर्थप्रकाशान्जनयति, एवं सत्त्वरजस्तमांसि परस्परं विरुद्धान्यर्थं निष्पादयन्ति॥१३॥

भाष्यानु०—सत्त्वं० जब सत्त्वगुण की मात्रा अधिक होती है तब शरीर हलका हो जाता है, बुद्धि नये प्रकाश को प्राप्त करती है और इन्द्रियाँ प्रसन्न रहती हैं। उप० जो उपष्टम्भ करता है वह उपष्टम्भक है अर्थात् उद्द्योतक = उद्युक्त करनेवाला, जैसे एक साँड़ दूसरे साँड़ को देखकर उत्कट उपष्टम्भ (उत्तेजित होकर लड़नेका उपक्रम) करता है, इसी प्रकार रजोगुणी वृत्तिवाला व्यक्ति भी। तथा रजोगुण चल-क्रियाशील भी देखा जाता है (रजोगुणी व्यक्ति चंचल चित्तवाला होता है) गुरु० जब तमोगुण उत्कट होता है तब अंग भारी हो जाते हैं, इन्द्रियाँ आच्छन्न हो जाती हैं अर्थात् अपने-अपने विषयको ग्रहण करने में समर्थ नहीं होती। यहाँ प्रश्न होता है कि यदि गुण (इस प्रकार) भिन्न-भिन्न स्वभाव होने से परस्पर विरुद्ध हैं, तब एक में रहकर कार्य की सामर्थ्य उनमें कैसे होती है। इसका उत्तर देते हैं–प्रदीप० प्रदीपवत् अर्थात् दीपक के तुल्य (अर्थतः =)

पुरुषार्थ साधन के लिये (इनकी) वृत्ति = (व्यवहार) देखी जाती है। जैसे दीपक में रूई, अग्नि और तेल ये परस्पर विरोधी पदार्थ एक साथ मिलकर दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करने में समर्थ होते होते हैं इसी प्रकार सत्त्व रज तम परस्पर विरुद्ध होते हुए भी पुरुपार्थ साधन करते हैं अर्थात् कार्य करने में समर्थ होते हैं ।।१३)

[अविवेकी आदि तथा प्रधान की सिद्धि]

अविवेक्याऽऽदिः सिद्धस्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययाऽभावात् ।
कारणगुणऽऽत्मकत्वात् कार्यस्याऽव्यक्तमपि सिद्धम् ।।१४।।

अन्वय—अविवेक्यादिः, सिद्धः त्रैगुण्यात्, तद्विपर्ययाभावात्, कार्यस्य, कारणगुणात्मकत्वात्, अव्यक्तमपि, सिद्धम् ।

अर्थ—ये जो अविवेकित्वादि गुण हैं वे महदादि में स्पष्ट ही सिद्ध हैं। त्रिगुणात्मक होने से व्यक्त और अव्यक्त का विपर्यय न होने से (अर्थात् व्यक्तके अव्यक्त से भिन्न न होने से) तथा कारण के गुण ही कार्य में होने से अव्यक्तकी भी सिद्धि हो जाती है।

भाष्यम्—अन्तर्प्रश्नो भवति—'त्रिगुणमविवेकि विषय' इत्यादिना प्रधान, व्यक्तं च व्याख्यातम् । तत्र-प्रधानम्, उपलभ्यमानं महदादि च स-त्रैगुण्यात्—महदादौ व्यक्तेनायं सिद्धयति । अत्रोच्यते—तद्विपर्ययाभावात् । तस्य विपर्ययः, तद्विपर्ययः तस्याऽभावः तद्विपर्ययाऽभावः, तस्मात् सिद्धमव्यक्तम् । यथा—यत्रैव तन्तवस्तत्रैव पटः, अन्ये तन्तवोऽन्यः पटो न, कुतः ? तद्विपर्यायाऽभावात् । एवं व्यक्तादव्यक्तमासन्नं भवति । दूरं प्रधानमासन्नं व्यक्तं, यो व्यक्तं पश्यति स प्रधानमपि पश्यति, तद्विपर्ययाऽभावात् । इतश्चाऽव्यक्तं सिद्धं—कारण-गुणात्मकत्वात् कार्यस्य । लोके यदात्मकं कारणं तदात्मकं कार्यमपि, यथा कृष्णेभ्यस्तन्तुभ्यः कृष्ण एव पटो भवति । एवं महदादि लिङ्गम्—अविवेकि, विषयः, सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि । यदात्मकं लिङ्गं तदात्मकमव्यक्तमपि सिद्धम् ।।१४।।

भाष्यानु०—अब यहाँ प्रश्न होता है "त्रिगुणमविवेकि विषयः" आदि (११ वीं) कारिका में जो व्यक्त (महदादि) और प्रधान (अव्यक्त) में साधर्म्य कहा था उसमें त्रिगुणम् इस अंश की व्याख्या हो गई (अर्थात् अनुमान आदि से यह सिद्ध हो गया कि व्यक्त और अव्यक्त त्रिगुण है।) किन्तु वे दोनों अविवेकी आदि भी हैं यह कैसे सिद्ध होता है (अर्थात् शेष अविवेकित्व = प्रधान से व्यक्त का अभेदत्व विषयत्व सामान्यत्व अचेतनत्व प्रसवधर्मित्व = परिणाम-शीलत्व आदि धर्म दोनों कैसे माने जायँगे ?)

इस प्रश्न का समाधान (इस १४ वीं कारिका से) करते हैं—अविवे० यह जो अविवेकी आदि गुण हैं ये त्रिगुणात्मक होने से महादादि में स्पष्ट ही सिद्ध हैं[1]। यह प्रश्न तो तब उठता है जब अव्यक्त है, यह निश्चित हो जाय। अव्यक्त की सिद्धि में क्या प्रमाण है ? इसका उत्तर देते हैं—तद्विप०—उसक' विपर्यय तद्विपर्यय, तद्विपर्यय का अभाव उससे, (यह समास है और) इसक 'सिद्धमव्यक्तम्' से अन्वय है। जैसे जहाँ तन्तु हैं वहीं पट (वस्त्र) भी है, तन्तु अन्य हैं पट अन्य है ऐसा नही, उनके विपर्यय का अभाव होने से, (अर्थात् जो तन्तु हैं वही पट है तन्तु भिन्न हैं पट भिन्न है ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि उनका विपर्यय नहीं होता—तन्तु के बिना पट नहीं हो सकता) इसी प्रकार व्यक्त भी अव्यक्तसे भिन्न नहीं होता। प्रधान दूर (अप्रत्यक्ष) और व्यक्त आसन्न है। जो व्यक्तको देखता है वह प्रधान को भी देखता है क्योंकि उनका विपर्यय नहीं होता, यह अव्यक्त की सिद्धि में एक हेतु है। (दूसरा हेतु और देते हैं–) इस इस प्रकार भी अव्यक्त सिद्ध है—**कारण०** लोक में देखा जाता है कि कारणका जो स्वरूप है वही कार्य का भी होता है, जैसे काले सूत से काला ही कपड़ा बनता है। इसलिये महदादि (व्यक्त) जब लिङ्गरूप—कार्य अविवेकि विषय सामान्य अचेतन और प्रसवधर्मि है तो उसका कारणभूत प्रधान भी अवश्य इन्हीं से युक्त होगा, यह सिद्ध हो गया ॥१४॥

[अव्यक्त की कारणता में हेतुत्व स्थापना]

भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूपस्य ॥१५॥

कारणमस्त्यव्यतम्—

---

१. अविवेकित्व आदि गुणों की सिद्धि (अनुमिति) अव्यक्तादि में त्रैगुण्य-हेतुक अनुमान से होती है—जो जो (अव्यक्तादि) त्रिगुणात्मक है वह वह अविवेकित्वादि से होता है जैसे अनुभूयमान घटादि (व्यक्त), यह अन्वय व्याप्ति हुई। इसी प्रकार जहाँ जहाँ अविवेकित्वादि नहीं है वहाँ वहाँ त्रिगुणात्मकत्व भी नहीं है जैसे पुरुषमें, यह व्यतिरेक व्याप्ति भी इसमें हेतु है। अतः त्रैगुण्य हेतु में अन्वय और व्यतिरेक हो जाने से त्रैगुण्य हेतु से अविवेकित्व आदिका अनुमान अव्यक्त में हो जाता है।

अन्वय—भेदानां, परिमाणात्, समन्वयात्, शक्तितः, प्रवृत्तेः, च, कारण-कार्यविभागात्, वैश्वरूपस्य, अविभागात्, अव्यक्तं, करणम्, अस्ति ।

अर्थ—भेदों के परिमाण से, समन्वय से, शक्ति के अनुसार ही प्रवृत्ति होने से, कारण और कार्य का विभाग होने से, वैश्वरूप के अविभाग (जगत् के लयक्रम) से भी सिद्ध है कि अव्यक्त (व्यक्त का) कारण है ।

भाष्यम्—'त्रैगुण्यादविवेक्यादिर्व्यक्ते सिद्धस्तद्विपर्ययाभावात्' एवं 'कारण-गुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्ध'मित्येतन्मिथ्या, लोके यन्नोपलभ्यते तन्नास्तीति न वाच्यं, सतोऽपि पाषाणगन्धादेरनुपलभ्यात् । एवं प्रधानमप्यस्ति, किन्तु नोपलभ्यते, तस्माह-कारणमस्त्यव्यक्तमिति क्रियाकारकसम्बन्धः । भेदानां परि-माणात् लोके यत्र कर्त्तास्ति तत्र परिमाणं दृष्टं, यथा कुलालः परिमितैर्मृत्पिण्डैः परिमितानेव घटान् करोति । एवं महदपि = महदादि लिङ्गं परिमितं—भेदतः । प्रधानकार्यम्—एका बुद्धिरेकोऽहङ्कारः, पञ्च तन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि, पञ्च-महाभूतानीति । एवं भेदानां परिमाणादस्ति प्रधानं कारणं, यदुक्तं परिमित-मुत्पादयति । यदि प्रधानं न स्यात् तदा निष्परिमाणमिदं व्यक्तमपि न स्यात्, परिमाणाच्च भेदानामस्ति प्रधानं यस्माद् व्यक्तमुत्पन्नम् । तथा—समन्वयात् इह लोके प्रसिद्धिर्दृष्टा, यथा व्रतधारिणं वटुं दृष्ट्वा समन्वयति—'नूनमस्य पितरौ ब्राह्मणा'विति । एवमिदं त्रिगुणं महदादिलिङ्गं दृष्ट्वा साधयामोऽस्य यत् 'कारणं भविष्यती'ति, अतः समन्वयादस्ति प्रधानम् । तथा—शक्तितः प्रवृत्तेश्च । इह यो यस्मिन् शक्तः सः तस्मिन्नेवार्थे प्रवर्तते, यथा कुलालो घटस्य करणे समर्थो घटमेव करोति न पटं, रथं वा । तथा अस्ति प्रधानं कारणं, कुतः ?—कारणकार्य-विभागात् । करोतीति-कारणम् । क्रियत इति कार्यम् । कारणस्य, कार्यस्य च विभागो, यथा-घटो दधिमधूदकपयसां धारणे समर्थो, न तथा तत्कारणं, मृत्पिण्डो वा घटं निष्पादयति, न चैवं घटो मृत्पिण्डम् । एवं महदादि लिङ्गं दृष्ट्वाऽनु-मीयते, 'अस्ति विभक्तं तत्कारणं यस्य विभाग इदं व्यक्त' मिति । इतश्च—, अविभागात् वैश्वरूपस्य विश्वं = जगत्, तस्य रूपं = व्यक्तिः । विश्वरूपस्य भावो-वैश्वरूपं, तस्याऽविभागादस्ति प्रधानम् । यस्मात् त्रैलोक्यस्य पञ्चानां पृथिव्यादीनां महाभूतानां परस्परं विभागो नास्ति, महाभूतेष्वन्तर्भूतास्त्रयो लोका इति, पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमित्येतानि पञ्चमहाभूतानि प्रलयकाले

सृष्टिक्रमेणैवाऽविभागं यान्ति तन्मात्रेषु, परिणामिषु तन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि चाहङ्कारे, अहङ्कारो-बुद्धौ, बुद्धिः प्रधाने। एवं त्रयो लोकाः प्रलयकाले प्रकृताव विभागं गच्छन्ति, तस्मादविभागात् क्षीरदधिवद् व्यक्ताऽव्यक्तयोरस्त्यव्यक्तं कारणम् ॥१५॥

भाष्यानु०—त्रिगुणात्मक होने से अविवेकित्व आदि व्यक्त (महदादि) में सिद्ध है, क्योंकि उसका विपर्यय नहीं होता, इसी प्रकार कारण के गुण कार्य में भी होते हैं, (इन दो कारणों से जो आप कहते हैं कि) अव्यक्त सिद्ध है यह कहना मिथ्या है। लोक में भी जो नहीं पाया जाता वह नहीं है ऐसा नहीं कहना चाहिए, जैसे पत्थर में गन्ध रहते हुए भी प्रतीत नहीं होता है। इसी प्रकार प्रधान भी है, किन्तु प्रतीत नहीं होता। वही कहते हैं—**कारणमस्त्यव्यक्तम्** (= अव्यक्त व्यक्त का कारण = उत्पादक है।) दोनों (व्यक्त और अव्यक्त) में क्रिया और कारक का सम्बन्ध है। **भेदानां०** लोक में जहाँ कर्ता है उसका परिमाण देखा जाता है। जैसे कुलाल परिमित मृत्पिण्डों से परिमित घड़ोंको ही बनाता है, इसी प्रकार अव्यक्त भी भेद से परिमित महदादि कार्य को उत्पन्न करता है। प्रधान का कार्य है—एक बुद्धि एक अहङ्कार, पाँच तन्माएँ, ग्यारह इन्द्रियाँ, पाँच महाभूत। इस प्रकार भेदों के परिमाण से (सिद्ध होता है कि) प्रधान (अव्यक्त) अवश्य ही कारण है जो इस परिमित व्यक्त को उत्पन्न करता है। यदि प्रधान न होता तो व्यक्त भी निष्परिमाण न होता, परन्तु भेदों में परिमाण है अतः (यह सिद्ध है कि) प्रधान है, जिससे यह व्यक्क उत्पन्न होता है। तथा **समन्वयात्** लोक में प्रसिद्धि देखी जाती है जैसे व्रतधारी वटुको देखकर कोई भी समझ लेता है कि निश्चय ही इसके माता पिता ब्राह्मण होंगे, इसी प्रकार त्रिगुणात्मक महदादि कार्य को देखकर यह सिद्ध करते हैं कि इसका कोई कारण अवश्य होगा, अतः समन्वय से भी सिद्ध है कि प्रधान है। तथा **शक्तितः०** यहाँ जो जिस कार्य को करने में समर्थ है वह उसमें ही प्रवृत्त, होता है, जैसे कुलाल घट को बनाने में समर्थ है, इसलिये वह घट बनाने में ही प्रवृत्त होता है, पट या रथ बनाने में नहीं। और भी, प्रधान कारण है, कैसे? **कारण०** जो करता है वह कारण है; जो किया जाता है वह कार्य है। कारण और कार्य का विभाग, जैसे—घड़ा जैसे दही मधु जल दूध आदि धारण करने में समर्थ है वैसे उस (घड़े) का कारण मृत्पिण्ड (उस दही आदि को धारण करने में समर्थ)

नहीं है। अथवा मृत्पिण्ड जैसे घड़े को उत्पन्न कर सकता है वैसे घड़ा मृत्पिण्ड को उत्पन्न नहीं कर सकता। इसी प्रकार महदादि कार्य को देखकर अनुमान होता है कि इस कार्य से पृथक् कोई इसका कारण अवश्य है जिसका विभाग यह कार्य (व्यक्त) है। और ऐसे भी–अविभागा० विश्व अर्थात् जगत्, उसका रूप अर्थात् व्यक्ति (=प्रकट होना), विश्वरूप का होना ही वैश्वरूप वै, उसके अविभाग से भी सिद्ध है कि प्रधान है, क्योंकि त्रैलोक्य के पाँच पृथिव्यादि महाभूतों का परस्पर विभाग नहीं है।। महाभूतों में ही तीनों लोक अन्तर्भूत हैं। पृथिवी जल तेज वायु आकाश ये पांच महाभूत प्रलय काल में अपनी उत्पत्ति के क्रम से ही परिणामी तन्मात्राओं में अविभाग को प्राप्त होते हैं (अर्थात् लीन हो जाते हैं)। तन्मात्राएँ तथा ग्यारह इन्द्रियाँ अहङ्कार में (लीन होती हैं) अहङ्कार बुद्धि में तथा बुद्धि प्रधान में लीन होती है। इस प्रकार तीनों लोक प्रलय काल में प्रकृति में अविभाग (लय) को प्राप्त होते हैं, इसलिये अविभाग से (भी सिद्ध है कि) दूध और दही की तरह व्यक्त और अव्यक्त में, अव्यक्त कारण है (और व्यक्त उसका कार्य) ॥ १५ ॥

[अव्यक्त की निवृत्ति के दो प्रकार]

—प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।
परिणामतः सलिलवत्प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥१६॥

अन्वय—त्रिगुणतः, समुदयात्, च प्रवर्तते, परिणामतः सलिलवत्, प्रति प्रति गुणाश्रयविशेषात् ।

अर्थ—त्रिगुण होने से तथा एकरूप होने से व्यक्त प्रवृत्त होता है। (एक ही अव्यक्त से उत्पन्न होने पर भी) जल की भाँति प्रत्येक गुण के आश्रय विशेष से परिणाम में अन्तर प्रतीत होता है।

भाष्यम्—अतश्च—अव्यक्तं प्रख्यातं कारणमस्ति, यस्मान्महदादि लिङ्गं प्रवर्तते। त्रिगुणतः = त्रिगुणात्, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानम्। तथा समुदयात्। यथा गंगाश्रोतांसि त्रीणि रुद्रमूर्द्धनि पतितानि एकं स्रोतो जनयन्ति, एवं त्रिगुणमव्यक्तमेकं व्यक्तं जनयति। यथा वा तन्तवः समुदिताः पटं जनयन्ति, एवमव्यक्तं गुणसमुदयान्महदादि जनयतीति—त्रिगुणतः समुदयाच्च व्यक्तं जगत् प्रवर्तते। यस्मादेकस्मात् प्रधानाद् व्यक्तं तस्मादेकरूपेण भवितव्यम्। नैष दोषः। परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रय विशेषात्।

एकस्मात् प्रधानात् त्रयो लोकाः समुत्पन्नास्तुल्यभावा न भवन्ति, देवाः सुखेन युक्ताः, मनुष्या दुःखेन, तिर्यञ्चो मोहेन। एकस्मात् प्रधानात् प्रवृत्तं व्यक्तं प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् परिणामतः सलिलवद्भवति। 'प्रतीप्रती'ति वीप्सा। गुणानामाश्रयो गुणाश्रयस्तद्विशेषः, तं गुणाश्रयविशेषं प्रतिनिधाय-प्रतिप्रति-गुणाश्रय-विशेषपरिणामात् प्रवर्तते व्यक्तम्। यथा—आकाशादेकरसं सलिलं पतितं नाना-रूपात् संश्लेषाद्भिद्यते तत्तद्रसान्तरैः, एवमेकस्मात् प्रधानात् प्रवृत्तास्त्रयो लोका नैकस्वभावा भवन्ति, देवेषु सत्त्वमुत्कटं, रजस्तमसी उदासीने, तेन तेऽत्यन्त-सुखिनः। मनुष्येषु रज उत्कटं भवति, सत्त्वतमसी उदासीने, तेन तेऽत्यन्तदुःखिनः। तिर्यक्षु तम उत्कटं भवति, सत्त्वरजसी उदासीने तेन तेऽत्यन्तमूढाः ॥१६॥

भाष्यानु०—इसलिये भी अव्यक्त प्रख्यात कारण है जिससे महदादि कार्य प्रवृत्त होता है। त्रिगुणतः = त्रिगुण होने से। सत्त्व, रजस्, तमस्, (ये तीन) गुण जिसमें हैं वह त्रिगुण है। इससे क्या सिद्ध हुआ ? सत्त्व रजस् तमस् की साम्यावस्था ही प्रकृति हैं। तथा समुदयात्—जैसे गंगा के तीन स्रोत शिवजी के मस्तक पर गिरने के अनन्तर एक स्त्रोत के रूप में होकर बहते हैं इसी प्रकार त्रिगुणात्मक अव्यक्त एक व्यक्त को उत्पन्न करता है। अथवा जैसे तन्तु समु-दित (एकत्रित) होकर पट को उत्पन्न करते हैं इसी प्रकार अव्यक्त भी गुणों के समुदाय से महदादिकों को उत्पन्न करता है। इस प्रकार त्रिगुण होने से तथा समुदय (एकरूप) होने से व्यक्त जगत् प्रवृत्त होता है। (प्रश्न) जब एक प्रधान से व्यक्त उत्पन्न होता है तो वह एकरूप हीं होना चाहिये ? (उत्तर) यह कोई दोष नहीं, परिणामतः—एक प्रधान से तीन लोक उत्पन्न होते हैं किन्तु वे एक समान नहीं होते। देवता सुख से युक्त होते हैं, मनुष्य दुःख से और पशु-पक्षी आदि मोह से। एक ही प्रधान से उत्पन्न होनेपर भी व्यक्त (महदादि) प्रत्येक गुणों के आश्रयविशेष से परिणाम में जल की तरह होता है। प्रति-प्रति यह वीप्सा है। गुणों का आश्रय गुणाश्रय कहलाता है, उसका विशेष उस गुणाश्रय-विशेष का अवलम्बनकर अर्थात्, प्रत्येक-प्रत्येक गुणाश्रयविशेष के परिणाम से व्यक्त प्रवृत्त होता है। जैसे आकाश से एक ही प्रकार का जल गिरता है किन्तु

भिन्न-भिन्न पदार्थों से मिलकर भिन्न-भिन्न रसों के रूप में हो जाता है।[1] एक ही प्रधान से प्रवृत्त हुए तीनों लोक एक ही स्वभाववाले नहीं होते। देवताओं में सत्त्व उत्कट होता है। रजस् और तमस् सामान्य होते हैं, इससे वे अत्यन्त सुखी होते हैं। मनुष्यों में रजस् उत्कट होता है, सत्त्व और तमस् साधारण होते हैं, इस कारण वे अत्यन्त दुःखी होते हैं। तिर्यञ्चों में तमस् उत्कट होता है, सत्त्व रजस् सामान्य होते हैं अतः वे अत्यन्त मोहयुक्त होते हैं ॥१६॥

[पुरुष की सिद्धि]

संघातपरार्थत्वात्, त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति—भोक्तृभावात्, कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥१७॥

अन्वय—संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययात्, अधिष्ठानात्, भोक्तृभावात्, कैवल्यार्थं, प्रवृत्तेश्च, पुरुषः अस्ति।

अर्थ—समूह दूसरों के लिये होने से (पंचभूतों का संघातरूप यह शरीर किसी के उपभोग के लिये ही होगा) इस कल्पना से, त्रिगुण (त्रिगुणमविवेकि आदि ११ वीं कारिका में उक्त) आदि के विपर्यय से, अधिष्ठान से, भोक्तृत्व होने से और कैवल्य के लिये प्रवृत्ति होने से (यह सिद्ध होता है कि) पुरुष है।

भाष्यम्—एवमार्याद्वयेन प्रधानस्याऽस्तित्वमवगम्यते। इतश्चोत्तरं पुरुषाऽस्तित्वप्रतिपादनार्थमाह। यदुक्तं 'व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्षः प्राप्यत' इति तत्र व्यक्तादनन्तरमव्यक्तं पञ्चभिः कारणैरधिगतं व्यक्तवत्। पुरुषोऽपि सूक्ष्मस्तस्याधुनाऽनुमितास्तित्वं प्रतिक्रियते। अस्ति पुरुषः कस्मात्? संघातपरार्थत्वात्। योऽयं महदादिसंघातः स पुरुषार्थ इत्यनुमीयते, अचेतनत्वात्, पर्यङ्कवत्। यथा पर्यङ्कः प्रत्येकं गात्रोत्पलपादपीठ-तूली-प्रच्छादनपटोपधानसंघातः परार्थो, न हि स्वार्थः पर्यङ्कस्य, न हि किञ्चिदपि गात्रोत्पलाद्यवयवान परस्परं कृत्यमस्ति। अतोऽवगम्यतेऽस्ति पुरुषो यः पर्यङ्के शेते, 'यस्यार्थं पर्यङ्कस्तत्परार्थम्। इदं शरीरं

---

१. आकाश से तो केवल मधुर रसवाला ही पानी बरसता है किन्तु पृथ्वीपर आकर वह बीज, वृक्ष, भूमि, आदि आश्रय भेद से दाख, आम, मिर्च, कैथ आदि फलों में परिणत होकर मीठा, खट्टा, तीक्ष्ण, कषाय आदि रूप में प्रतीत होता है, उसी प्रकार सत्त्व आदि गुण भी एकरूप हैं, पर आश्रयभेद से नाना रूप धारण कर नाना प्रकार की सृष्टि का प्रादुर्भाव करते है।

पञ्चानां महाभूतानां सङ्घातो वर्तते, अस्ति पुरुषो यस्येदं भोग्यं शरीरं भोग्य-महदादिरूपं समुत्पन्नमिति । इतश्चात्माऽस्ति—त्रिगुणादिविपर्ययात् । यदुक्तं पूर्वस्यामार्यायां 'त्रिगुणमविवेकि विषय' इत्यादि । तस्माद्विपर्ययात् । यथोक्तं—'तद्विपरीतस्तथा च पुमान्' अधिष्ठानात् । यथेह लङ्घनप्लवनधावनसमर्थैरश्वैर्युक्तो रथः सारथिनाऽधिष्ठितः प्रवर्तते, तथात्माऽधिष्ठानाच्छरीरमिति । तथा चोक्तं षष्टितन्त्रे—'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते' । अतोऽस्त्यात्मा,–भोक्तृभावात् यथा मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायषड्रसोपबृंहितस्य संयुक्तस्यान्नस्य साध्यते, एवं महदालिङ्गस्य भोक्तृत्वाऽभावादस्ति स आत्मा यस्येदं भोग्यं शरीरमिति । इतश्च, कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च । केवलस्य भावः कैवल्यं, तन्निमित्तं यतः सर्वो विद्वान-विद्वांश्च संसारसन्तानक्षयमिच्छति । एवमेभिर्हेतुभिरस्त्यात्मा शरीरव्यति-रिक्तः ॥ १७ ॥

भाष्यानु०—इस प्रकार (१५–१६) इन दो आर्याओं से प्रधान के अस्तित्व की प्रतीति हो गई । इसके बाद पुरुष के अस्तित्व का प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं—जैसा कि कहा था "व्यक्त अव्यक्त और ज्ञ (पुरुष) के ज्ञान से मोक्ष मिलता है" इनमें व्यक्त की भाँति अव्यक्त भी पाँच कारणों से सिद्ध हो गया । अब पुरुष भी तो सूक्ष्म है (दिखाई नहीं पड़ता, वह है या नहीं ? इसमें क्या प्रमाण ?) इसके अस्तित्वको अनुमान से सिद्ध करते हैं—कैसे ?—सङ्घात० यह जो महत् आदि (२४ तत्त्वों) का समूह एकत्रित है वह पुरुष के लिये ही है, ऐसा अनुमान होता है । क्योंकि वह अचेतन (जड) है, पर्यङ्क (पलंग) की तरह । (अर्थात्) जैसे पलङ्ग, विछौना, आसन, तकिया, पलंगपोस आदि (सभी जड़ हैं और इन) की परस्पर एक दूसरे के लिये कोई उपयोगिता नहीं है । ये सब एकत्र हैं । (शय्या बिछी है) इससे अनुमान होता है कि कोई पुरुष है जो इस (शय्या) पर सोएगा, जिस व्यक्ति के लिए वह शय्या है वह (शय्या से) पर = भिन्न (व्यक्ति) है । इसी प्रकार यह शरीर भी पंच महाभूतों का समूह है । कोई पुरुष अवश्य होगा जिसके भोग के लिये महदादि भोग्यतत्त्वों से यह शरीर बना है । इस कारण से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है—त्रिगुणादि० जैसे की पहले (११ कारिका में) कहा गया है "त्रिगुणमविवेकि विषयः" इत्यादि, इनसे भिन्न होने के कारण भी यह

सिद्ध होता है कि पुरुष है। जैसा कि कहा है—उनसे विपरीत पुरुष होता है[१]। अधि० जैसे लांघने कूदने दौड़ने आदि में समर्थ घोड़ों से युक्त रथपर जब सारथी बैठा हो तभी वह प्रवृत्त होता हैं। उसी प्रकार आत्मा से अधिष्ठित ही शरीर का भी संचालन होता है। जैसा कि षष्टितंत्र में कहा है—'पुरुष के द्वारा अधिष्ठित ही प्रधान प्रवृत्त होता है''[२] इसलिये आत्मा (पुरुष) है। भोक्तृ०—भोक्तृभाव से भी यह सिद्ध होता है कि पुरुष है जैसे मधुर, अम्ल, लवण, कटु तिक्त और कषाय इन छ रसों से परिपूर्ण अन्न का आस्वादक कोई पृथक् व्यक्ति (भोक्ता) होता है वैसे ही महदादि कार्यजात में भी भोक्तृत्व न होने से यह सिद्ध होता है कि भोक्ता कोई अवश्य है जिसका भोग्य यह शरीर है। और भी कैवल्यार्थं० केवल होना ही कैवल्य है, उस कैवल्य के लिये (शिष्ट मुमुक्षुजनों या तत्प्रतिपादक शास्त्रों की) प्रवृत्ति देखी जाती है, इससे भी अनुमान होता है कि आत्मा है, क्योंकि विद्वान् हों या मूर्ख सभी व्यक्ति संसार-सन्ताप (जन्ममरण की शृंखला) का नाश चाहते हैं।[३] इस प्रकार इन हेतुओं से यह सिद्ध होता है कि आत्मा अवश्य है और वह शरीर से पृथक् है ॥ १७ ॥

---

१. तात्पर्य यह है कि जैसे शय्या आसन आदि का एकत्रीकरण (उससे भिन्न पुरुष) के लिये होता है वैसे ही पुरुष को भी यदि त्रिगुणात्मक संघात ही माना जाय तो उसके लिये फिर किसी पर (भोक्ता) की कल्पना करनी पड़ेगी। क्योंकि जो भी संघात होगा वह पर के लिये ही होगा। इसलिये इसका जो पर होगा उसमें भी यही दोष आयेगा और अनवस्था हो जायगी। इसलिये त्रिगुणम् आदि कारिका के अनुसार इस (पुरुष) को ही पर माना जाय।

२. क्योंकि शरीरादि पदार्थ जड़ हैं। बिना चेतन के अधिष्ठान के उनका संचालन हो नहीं सकता। इससे भी यह सिद्ध होता है कि इस त्रिगुणात्मक शरीरादि का अधिष्ठाता पुरुष है।

३. मुक्ति के लिये सबकी प्रवृत्ति होती है। वह मुक्ति त्रिगुणात्मक सुख-दुःखादि पदार्थों की तो हो नहीं सकती। इसलिये मुमुक्षुजनों या तत्प्रतिपादक शास्त्रों की प्रवृत्ति के उद्देश्यभूत मुक्ति का आधार अत्रिगुण, चेतन पुरुष को ही मानना आवश्यक है।

[पुरुष वहुत हैं]

जन्म-मरण-करणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं, त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ १८ ॥

अन्वय--**जन्ममरणकरणानां, प्रतिनियमात्, अयुगपत्प्रवृत्तेः च, त्रैगुण्य-विपर्ययात्, च, एव, पुरुषबहुत्वं, सिद्धम् ।**

अर्थ—जन्म, मृत्यु और इन्द्रियों के प्रत्येक में भिन्न-भिन्न होने से, सबकी सब में एक साथ प्रवृत्ति न होने से, तथा त्रैगुण्य के विपर्यय से भी पुरुष का बहुत होना सिद्ध होता है ।

भाष्यम्—**अथ सः किन्नेकः सर्वशरीरेऽधिष्ठाता मणिरसनात्मकसूत्रवत्, आहो-स्विद् बहवः आत्मानः प्रतिशरीरमधिष्ठातार इति ? अत्रोच्यते--जन्म च मरणञ्च, करणानि च–जन्ममरणकरणानि, तेषां प्रतिनियमात् । प्रत्येकं नियमादित्यर्थः । यद्येक एव आत्मा स्यात्तत एकस्य जन्मनि सर्व एव जायेरन्, एकस्य मरणे सर्वेऽपि म्रियेरन्, एकस्य करणवैकल्ये बाधिर्याऽन्धत्वमूकत्वकुणित्वखञ्जत्वलक्षणे सर्वेऽपि बधिराऽन्धमूककुणिखञ्जाः स्युः, न चैवं भवति, तस्मात्–जन्ममरण-करणानां प्रतिनियमात् सिद्धम् । इतश्च,–अयुगपत् प्रवृत्तेश्च युगपत् = एककालं, न युगपद् अयुगपत् प्रवर्तनम् । यस्मादयुगपद्धर्मादिषु प्रवृत्तिर्दृश्यते एके धर्मे प्रवृत्ताः, अन्येऽधर्मे, वैराग्येऽन्ये, ज्ञानेऽन्ये प्रवृत्ताः, तस्माद् अयुगपत् प्रवृत्तेश्च-बहवः इति सिद्धम् । किञ्चान्यत्-त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव । त्रिगुणभाव-विपर्ययाच्च पुरुषबहुत्वं सिद्धम् । यथा सामान्ये जन्मनि एकः सात्त्विकः, सुखी, अन्यो राजसो दुःखी, अन्यस्तामसो मोहवान्, एवं त्रैगुण्यविपर्ययाद्बहुत्वं सिद्धमिति ॥ १८ ॥**

भाष्यानु०—(प्रश्न) अब वह आत्मा (पुरुष) सब शरीरों का अधिष्ठाता एक ही है ? जैसे कि एक ही तागे में सब मणियाँ गूँथ दी जाती हैं, अथवा बहुत सी आत्माएँ हैं जो प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् रहती हैं ?

(उत्तर) इस पर कहते हैं–जन्ममरण० जन्म (= उत्पन्न होना) मरण = (मृत्यु होना) और करण (= इन्द्रियां) इनके प्रतिनियम से अर्थात् प्रत्येक शरीर का जन्म, मरण और इन्द्रियों के पृथक्-पृथक् होने से । यदि आत्मा एक ही होता तो एक व्यक्ति का जन्म होने पर सब व्यक्तियों का जन्म होता और एक के मरने पर सब मर जाते, तथा एक का इन्द्रिय-वैकल्य होने से अर्थात् एक में वहरापन, अन्धापन, गूँगापन, लंगड़ापन, या खञ्जता होने पर सभी बहरे,

अन्धे, लंगड़े, गूँगे या खञ्ज हो जाते, किन्तु ऐसा होता नहीं इसलिये प्रत्येक का पृथक् जन्म-मरण और इन्द्रिय—व्यवहार का नियम होने से यह सिद्ध है कि पुरुष बहुत (प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न) होते हैं। यह भी कारण है कि अयुग० युगपत् अर्थात् एक समय में। जो युगपत् = एक ही समय में नहीं है वह अयुगपत् कहायेगा, अयुगपत् प्रवृत्ति होने से। क्योंकि धर्मादि में एक साथ सबकी प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। कोई धर्म में लगा है तो दूसरे अधर्म में, कोई वैराग्य में, कोई ज्ञान में प्रवृत्त हुआ रहता है। इसलिये एक साथ सबकी एकही में प्रवृत्ति न होने से भी यह सिद्ध होता है कि पुरुष बहुत (प्रत्येक शरीर में भिन्न) हैं। और क्या, त्रैगुण्य० त्रिगुण भाव का विपर्यय होने से भी पुरुषों का बहुत होना सिद्ध होता है जैसे सामान्य रूप से जन्म होनेपर भी एक सात्त्विक व्यक्ति सुखी, राजस व्यक्ति दुःखी और तामस व्यक्ति मोहवाला होता है। इस प्रकार तीनों गुणों का वैषम्य देखने से भी यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न आत्मा है अर्थात् पुरुष बहुत हैं॥ १

[पुरुष के धर्म]

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं, माध्यस्थ्यं, द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च॥ १९॥

अन्वय—**तस्मात्, च, विपर्यासात्, अस्य, पुरुषस्य, साक्षित्वं, माध्यस्थ्यं, द्रष्टृत्वम्, अकर्तृभावश्च, सिद्धम्॥ १९॥**

अर्थ—और उस (त्रैगुण्य) विपर्यास से इस पुरुष का साक्षी होना, मध्यस्थ होना, द्रष्टा होना और अकर्ता होना सिद्ध है।

भाष्यम्—**'अकर्ता पुरुष' इत्येतदुच्यते**—तस्माच्च विपर्यासात्। तस्माच्च = **यथोक्तत्रैगुण्यविपर्यासाद्विपर्ययात्—निर्गुणः, पुरुषो, विवेकी, भोक्तेत्यादिगुणानां पुरुषस्य यो विपर्यास उक्तस्तस्मात्, सत्त्वरजस्तमःसु कर्तृभूतेषु साक्षित्वं सिद्धं पुरुषस्येति,—योऽयमधिकृतो बहुत्वं प्रति। गुणा एव कर्तारः प्रवर्तन्ते, साक्षी न प्रवर्तते, नापि निवर्तत एव। किञ्चान्यत्,** कैवल्यं = **केवलभावः। कैवल्यम् अन्यत्वमित्यर्थः। त्रिगुणेभ्यः केवलः = अन्यः।** माध्यस्थ्यं—**मध्यस्थभावः। परिव्राजकवत् मध्यस्थः पुरुषः। यथा कश्चित् परिव्राजको ग्रामीणेषु कर्षणार्थेषु प्रवृत्तेषु केवलो मध्यस्थः, पुरुषोऽप्येवं गुणेषु प्रवर्तमानेषु न प्रवर्तते,** तस्माद्—द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च। **यस्मान्मध्यस्थस्तस्माद् द्रष्टा, तस्मादकर्ता**

पुरुषस्तेषां कर्मणामिति, सत्त्वरजतमांसि त्रयो गुणाः कर्मकर्तृभावेन प्रवर्तन्ते, न पुरुषः। एवं पुरुषस्याऽस्तित्वं च सिद्धम् ॥ १९ ॥

भाष्यानु०—पुरुष 'अकर्त्ता' है इसपर कहा जाता है। तस्माच्च० पूर्वोक्त त्रैगुण्यके विपर्यास से अर्थात् विपरीत होने से—पुरुष निर्गुण विवेकी भोक्ता इत्यादि गुणों से पुरुष का जो वैपरीत्य कहा है इससे। सिद्ध० सत्त्व रज तमके कर्तृभूत होनेपर पुरुष का साक्षित्व स्वयं सिद्ध है।[1] यह वही पुरुष है जो कि बहुत्व के प्रति अधिकृत है (अर्थात् जिसका बहुत होना पूर्व कारिका में सिद्ध किया गया है)। कर्त्ता जो गुण हैं वे ही प्रवृत्त हते हैं। साक्षी न तो प्रवृत्त होता है और न निवृत्त ही होता है। और क्या। कैवल्य० केवल होना, कैवल्य का अर्थ है अन्यत्व। त्रिगुणों से केवल अर्थात् (इनसे) अन्य। माध्यस्थ्यं मध्यस्थ होना। संन्यासीकी तरह पुरुष भी मध्यस्थ है। जैसे गाँवके किसान जब खेतीपातीके काममें प्रवृत्त हो जाते हैं तब उस गाँव में रहनेवाला संन्यासी केवल उनके काम को देखता रहता है क्योंकि उसके पास तो जमीन आदि है नहीं, पर है वह भी वहीं का बासी, इसी प्रकार गुण अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त होते हैं तो पुरुष उनको केवल देखता रहता है वह उनमें प्रवृत्त नहीं होता, इसीलिये उसमें द्रष्टृत्व—(अर्थात् देखना और कर्म न करना) है। क्योंकि वह मध्यस्थ है इसलिए वह द्रष्टा है और इसलिये उन कर्मों का अकर्त्ता भी है। सत्त्व रजस् तमस् ये तीनों गुण ही कर्मकर्त्ता रूप से प्रवृत्त होते हैं, पुरुष नहीं प्रवृत्त होता। इस प्रकार पुरुष का अस्तित्व भी सिद्ध है ॥ १९ ॥

[पुरुष के कर्तृत्व का भ्रम]

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ २० ॥

अन्वय—**तस्मात्, तत्संयोगात्, अचेतनं, चेतनावद्, इव, लिङ्गं, तथा, गुणकर्तृत्वे, च, उदासीनः, कर्त्ता, इव, भवति।**

---

१. क्योंकि पुरुष कर्त्ता हो नहीं सकता, अत्रिगुण होने से। कर्त्ता सत्त्व रजस् तमस् ये गुण ही हैं। कर्म भी वह नहीं है और उसके अस्तित्वको अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। वह है अवश्य, तो फिर उस पुरुष की उपयोगिता क्या हुई। इसीलिये यह स्वयं सिद्ध है कि वह इन गुणों के कर्मों का साक्षी है।

अर्थ—(जैसे लोक में घटादि शीत-उष्ण आदिके संयोग से शीतउष्ण आदि कहा जाता है ऐसे ही) यह महदादि अचेतन होनेपर भी उस चेतनके संयोग से चेतना जैसा ही प्रतीत होता है। यद्यपि गुण कर्ता है किन्तु पुरुष उदासीन होता हुआ भी कर्त्ता जैसे प्रतीत होता है।

भाष्यम्—यस्मादकर्ता पुरुषस्तत् कथमध्यवसायं करोति-'धर्मं करिष्याम्य-धर्मं न करिष्यामी'त्यतः कर्ता भवति, न च कर्ता पुरुषः, एवमुभयथा दोषः स्यादिति। अत उच्यते—इह पुरुषश्चेतनावान्; तेन चेतनाऽवभाससंयुक्तं महदादि लिङ्गं चेतनावदिव भवति। यथा लोके घटः शीतसंयुक्तः शीतः, उष्णसंयुक्त उष्णः एवं महदादि लिङ्गं तस्य संयोगात् = पुरुषसंयोगात्-चेतनावदिव भवति। तस्माद् गुणा अध्यवसायं कुर्वन्ति, न पुरुषः। यद्यपि लोके 'पुरुषः कर्ता, गन्तेत्यादि' प्रयुज्यते, तथाप्यकर्ता पुरुषः। कथम्? गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्यु-दासीनः। गुणानां कर्तृत्वे सति, (तथा =) उदासीनोऽपि पुरुषः कर्तेव भवति न कर्ता। अत्र दृष्टान्तो भवति,—यथाऽचौरश्चौरैः सह गृहीतश्चौर इत्यवगम्यते, एव त्रयो गुणाः कर्तारः तैः संयुक्तः पुरुषोऽकर्ताऽपि कर्त्ता भवति, कर्तृसंयोगात्। एवं व्यक्ताऽव्यक्त-ज्ञानां विभागो विख्यातः, यद्विभागान्मोक्षप्राप्तिरिति॥ २०॥

भाष्यानु०—(प्रश्न—) जब पुरुष कर्त्ता नहीं है तो निश्चय कैसे करता है कि 'मैं धर्म करूँगा, मैं अधर्म न करूँगा' आदि। इससे तो सिद्ध होता है कि पुरुष कर्त्ता है। और वह कर्त्ता है नहीं। इस प्रकार दोनों तरहसे दोष होगा? (उत्तर-) इसलिये कहते हैं—तस्मात्तत्० यहाँ पुरुष चेतनावान् है, इसलिये चेतना के अवभास (प्रतीति) से संयुक्त महदादि कार्यसमूह चेतनावान् जैसा होता है। जैसे लोक में, घड़ा शीत से संयुक्त होने पर "घड़ा ठंढा है" और उष्णसे संयुक्त होने पर "घड़ा गरम है" ऐसा प्रयोग होता है, इसी प्रकार महदादि जड़ कार्यसमूह भी उस चेतनावान् पुरुषके संयोगसे चेतन जैसा प्रतीत होता है। इसलिये गुण ही अध्यवसाय करते हैं पुरुष नहीं। यद्यपि लोक में पुरुष करता है" "पुरुष जाता है" इत्यादि प्रयोग होते हैं फिर भी पुरुष अकर्त्ता ही है। कैसे? **गुणकर्तृत्वे०** गुणोंके कर्त्ता होनेपर उदासीन (तटस्थ) रहता हुआ भी पुरुष कर्त्ता जैसा प्रतीत होता है (वस्तुतः) कर्त्ता नहीं है। इसमें दृष्टान्त है जैसे—चोरों के

देखकर उन विषयों से विरक्त होना, बाह्य वैराग्य है। आभ्यन्तर वैराग्य—'यह प्रधान (प्रकृति) भी स्वप्न या इन्द्रजाल के सदृश है' इस प्रकार मोक्ष चाहने वाले व्यक्ति को जो स्थायी वैराग्य उत्पन्न होता है वह आभ्यन्तर वैराग्य है। ऐश्वर्य का अर्थ है ईश्वर भाव अर्थात् समर्थ होना। वह आठ प्रकार का है—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और यत्रकामावसायित्व। अणु होना अणिमा है अर्थात् जिसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म होकर जगत् में विचरण कर सकता है। महिमा–जिसमें महान् से महान् होकर विचरण करता है। लघिमा–विसतन्तु या रूई के फाहे से भी हलका होकर फल के परागवाही अवयवों की नोक पर भी बैठ सके। प्राप्ति—अपनी अभीष्ट वस्तु चाहे जहाँ कहीं हो उसे प्राप्त कर सके। प्राकाम्य—विस्तार से जो चाहे वही कर सके। ईशित्व—त्रिभुवन का स्वामित्व (तीनों लोकों पर अधिकार का सामर्थ्य)। वशित्व—सबको अपने वश में कर लेना। यत्रकामावसायित्व-ब्रह्म से लेकर तृणपर्यन्त में जहाँ इच्छा हो वहीं खड़ा होना, बैठना, विहार करना आदि कर सके। ये चार (धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य) बुद्धि के सात्त्विक रूप हैं। जब सत्त्व उत्कट होकर रजस् और तमस् को अभिभूत कर देता है तब पुरुष बुद्धि के गुणों—धर्मादि को प्राप्त करता है। और क्या, तामस० इस धर्मादि से विपरीत तामस बुद्धि का रूप है। जैसे धर्म से विपरीत अधर्म, इसी प्रकार (ज्ञान से विपरीत) अज्ञान, (वैराग्य से विपरीत) अवैराग्य और (ऐश्वर्य से विपरीत) अनैश्वर्य। इस प्रकार सात्त्विक और तामस रूपों से आठ प्रकार की बुद्धि त्रिगुणात्मक अव्यक्त से उत्पन्न होती है॥ २३॥

[अहङ्कार का लक्षण और उससे सर्ग की प्रवृत्ति]

अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्त्तते सर्गः।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रः पञ्चकश्चैव॥ २४॥

अन्वय—अभिमानः, अहंकारः तस्मात्, द्विविधः, सर्गः, प्रवर्त्तते, एकादशकः, गणः, तन्मात्रः, पञ्चकश्च, एव।

अर्थ—अभिमान ही अहङ्कार है। उससे दो प्रकार की सृष्टि प्रवृत्त होती है, ग्यारह इन्द्रियों का समूह और पाँच तन्मात्राओं का समूह भी।

भाष्यम्—एवं बुद्धिलक्षणमुक्तम्। अहङ्कारलक्षणमुच्यते-एकादशकश्च-गणः = एकादशेन्द्रियाणि, तथा तन्मात्रो गणः पञ्चकः = पञ्चलक्षणोपेतः। शब्द-तन्मात्र-स्पर्शतन्मात्र-रूपतन्मात्र-गन्धतन्मात्रलक्षणोपेतः ॥ २४ ॥

भाष्यानु०—इस प्रकार बुद्धि का लक्षण कर दिया गया है अहङ्कार का लक्षण कहते हैं—अभिमानो० अभिमान ही अहङ्कार है उससे दो प्रकार की सृष्टि होती है। एकादशकश्च गणः ग्यारह इन्द्रियों का समूह और तन्मात्रः पञ्चकश्चैव तन्मात्राओं का समूह पाँच—शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र इन लक्षणों वाला है ॥ २४ ॥

[द्विविधा सृष्टि]

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्त्तते वैकृतादहङ्कारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥ २५ ॥

अन्वय—वैकृतात्, अंकारात्, सात्त्विकः, एकादशकः, प्रवर्त्तते, भूतादेः, तन्मात्रः, स, तामसः तैजसात्, उभयम् ॥ २५ ॥

अर्थ—वैकृत अहङ्कार से सात्त्विक ग्यारह (इन्द्रिय) का समूह प्रवृत्त होता है भूतादि से (पाँच) तण्मात्राओं का, वह तामस (अहङ्कार) कहलाता है। तैजस अहङ्कार से दोनों प्रकार का सर्ग (११ इन्द्रिय और ५ तन्मात्र) प्रवृत्त होता है।

भाष्यम्—किलक्षणात्सर्गं इत्येतदाह-सत्त्वेनाभिभूते यदा रजस्तमसी अहंकारे भवतस्तदा सोऽहंकारः—सात्त्विकः। तस्य च पूर्वाचार्यैः संज्ञा कृता वैकृत इति। एस्माद्वैकृतादहङ्कारादेकादशक इन्द्रियगण उत्पद्यते। यस्मात् सात्त्विकानि विशुद्धानीन्द्रियाणि स्वविषयसमर्थानि, तस्मादुच्यते—सात्त्विक एकादशक इति। किञ्चाऽन्यत्? भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः। तमसाभिभूते सत्त्वरजसी अहंकारे यदा भवतः, तदा सोऽहङ्कारस्तामस उच्यते, तस्य पूर्वाचार्यकृता संज्ञा 'भूतादि' तस्माद् भूतादेरहङ्कारात् तन्मात्रः पञ्चको गण उत्पद्यते। भूतानामादिभूतस्तमो-बहुलः, तेनोक्तः स तामसः। तस्माद् भूतादेः पञ्चतन्मात्रको गणः। किञ्च—तैजसादुभयम्। यदा रजसाभिभूते सत्त्वतमसी अहङ्कारे भवतस्तदा तस्मात् सोऽहङ्कारस्तैजस इति संज्ञां लभते। तस्मात्तैजसादुभयमुत्पद्यते उभयमिति। एकादशको गणस्तन्मात्रः पञ्चकः। योऽयं सात्त्विकोऽहङ्कारो, वैकृतिको = विकृतो भूत्वा, एकादशेन्द्रियाण्युत्पादयति, स तैजसमहङ्कारं सहायं गृह्णाति।

चेतन इति। तत्र बाह्येनज्ञानेन लोकपङ्क्तिर्लोकानुराग इत्यर्थः। आभ्यन्तरेण ज्ञानेन मोक्ष इत्यर्थः। वैराग्यमपि द्विविधं—बाह्यमाभ्यन्तरं च। बाह्यं दृष्टविषय-वैतृष्ण्यम्-अर्जन-रक्षण-क्षय-सङ्ग-हिंसा-दोषदर्शनाद्विरक्तस्य। आभ्यन्तरं 'प्रधान-मप्यत्र स्वप्नेन्द्रजालसदृश'मिति विरक्तस्य मोक्षेप्सोर्यदुत्पद्यते तदाभ्यन्तरं वैराग्यम्। ऐश्वर्यं = ईश्वरभावः। तच्चाष्टगुणम्—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यमीशित्वं, वशित्वं, यत्रकामावसायित्वं चेति। अणोर्भावोऽणिमा सूक्ष्मो भूत्वा जगति विचरतीति। महिमा-महान् भूत्वा विचरतीति। लघिमा—मृणाली-तूलावयवादपि लघुतया पुष्पकेसराग्रेष्वपि तिष्ठति। प्राप्तिः—अभिमतं वस्तु यत्र तत्रावस्थितः प्राप्नोति। प्राकाम्यं—प्रकामतो यदेवेच्छति तदेव विदधाति। ईशित्वं-प्रभुतया त्रैलोक्यमपीष्टे। वशित्वं-सर्वं वशीभवति। यत्रकामावसायित्वं—ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं यत्र कामस्तत्रैवास्य स्वेच्छया स्थानासनविहारानाचरतीति। चत्वारि एतानि बुद्धेः सात्त्विकानि रूपाणि। यदा सत्त्वेन रजस्तमसी अभिभूते, तदा पुमान् बुद्धिगुणान् धर्मादीनाप्नोति। किञ्चान्यत्—तामसमस्माद्विपर्यस्तम्। अस्माद्धर्मादेर्विपरीतं तामसं बुद्धिरूपम्। तत्र धर्माद्विपरीतोऽधर्मः एवमज्ञानम-वैराग्यमनैश्वर्यमिति। एवं सात्त्विकैस्तामसैः स्वरूपैरष्टाङ्गा बुद्धिस्त्रिगुणादव्यक्ता-दुत्पद्यते॥ २३॥

भाष्यानु०—जैसाकि कहा है—"व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ (पुरुष) को जानने से मोक्ष होता है," इस पर महत् से लेकर महाभूत (आकाशादि) पर्यन्त २३ भेदोंवाले व्यक्त की व्याख्या हो गई। "भेदानां परिमाणात्" इस (१५ वीं कारिका) से अव्यक्त की भी व्याख्या हो गई। पुरुष की भी "सङ्घा-तपरार्थत्वात्—"इस (१७ वीं कारिका) से व्याख्या कर दी गयी। इस प्रकार ये २५ तत्त्व हैं। जो व्यक्ति इन २५ तत्त्वों से त्रिभुवन को व्याप्त हुआ जान लेता है उसका भाव अर्थात् अस्तित्व ही तत्त्व (व्यक्ताव्यक्तज्ञत्व अर्थात् मुक्ति) है। जैसा कि कहा है—"पचीस तत्त्वों को जाननेवाला व्यक्ति जिस किसी आश्रम में रहता हो, जटी (वानप्रस्थ), मुंडी (संन्यासी) अथवा शिखी (ब्रह्मचारी) हो वह मुक्त हो जाता है इसमें सन्देह नहीं।" वे (२५ तत्त्व) ये हैं—प्रकृति, पुरुष, महत् (बुद्धि), अहंकार, ५ तन्मात्राएँ; ११ इन्द्रियां, ५ महाभूत ये २५ तत्त्व हैं।

वहाँ कहा है–प्रकृति से महान् उत्पन्न होता है। उस महान् का क्या लक्षण है? यही कहते हैं—अध्यवसायो बुद्धिः अध्यवसाय ही बुद्धि का लक्षण है, अध्यवसान (अन्तिम कर्तव्य का निश्चय) ही अध्यवसाय है[1]। जैसे बीज में आगे वृक्ष रूप में होने वाला अंकुर निश्चित होता है। इसी प्रकार "यह घट है" "यह पट है" इस प्रकार का निश्चय प्रत्येक पदार्थ में होता है जिसके द्वारा यह निश्चय होता है वही बुद्धि है। वह बुद्धि सात्त्विक और तामस भेदों से आठ प्रकार की होती है। इसमें बुद्धि का सात्त्विक रूप चार प्रकार का होता है— धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य। इनमें भी दया, दान, यम, नियम ये लक्षण होते हैं। इनमें यम-नियम जैसे पातञ्जल योगसूत्र में कहे गयें हैं—"अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये यम हैं।" "शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ये नियम हैं।" ज्ञान, प्रकाश, अवगम, भान ये (बुद्धि के) पर्याय हैं। यह (ज्ञान) दो प्रकार का होता है—बाह्य और आभ्यन्तर। इनमें बाह्यज्ञान वेद-शिक्षा—कल्प—व्याकरण—निरुक्त-छन्द-ज्यौतिष नामक ६ अङ्गों सहित, पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्म-शास्त्र आदि है। आभ्यन्तर ज्ञान प्रकृति-पुरुष का ज्ञान है, अर्थात्—यह सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था ही प्रकृति है, और यह सिद्ध, निर्गुण, व्यापी तथा चेतन पुरुष है—(इस प्रकार का ज्ञान आभ्यन्तर ज्ञान है)। इनमें बाह्य (वेदादि) ज्ञान से लोक पंक्ति अर्थात् लोकानुराग होता है (लोक व्यवहार चलता है) और आभ्यन्तर ज्ञान से मोक्ष होता है।

वैराग्य भी दो प्रकार का होता है। बाह्य और आभ्यन्तर। संसार के विषयों का प्रत्यक्ष होने पर उनको प्राप्त करने, प्राप्त का रक्षण करने, रक्षित-का भी क्षय हो जाने, उनके संग से उन पर आसक्ति और हिंसा आदि दोष

१—संसार के किसी भी पदार्थ का पहिले प्रत्यक्ष होता है, फिर उसके विषय में "यह ऐसा है और ऐसा नहीं है" यह ज्ञान होता है। तब "मुझे यह करना चाहिये या नहीं करना चाहिये" ऐसा संशय होता है। अन्त में "यह मुझे करना ही चाहिए या नहीं करना चाहिए" इस प्रकार की निश्चयांत्मकता होती है जिसके अनुसार व्यक्ति किसी भी कार्य को कर डालता है या छोड़ देता है, यही अन्तिम निर्णयात्मिकता बुद्धि है जिसे अध्यवसाय कहते हैं। इसी को उदाहरण से स्पष्ट किया गया है।

भाष्यम्—इदानीं सर्गविभागदर्शनार्थमाह—प्रकृतिः = प्रधानं, ब्रह्म, अव्यक्तं, बहुधानकं, मायेति पर्यायाः। अलिङ्गस्य प्रकृतेः सकाशान्महान्—उत्पद्यते। महान्, बुद्धिः, आसुरी, मतिः, ख्यातिर्ज्ञानमिति प्रज्ञापर्यायैरुत्पद्यते। तस्माच्च महतोऽहङ्कार उत्पद्यते। अहङ्कारो, भूतादिर्वैकृतस्तैजसोऽभिमान इति पर्यायाः। तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादहङ्कारात् षोडशकः—षोडशस्वरूपेण गण उत्पद्यते। स यथा—पञ्चतन्मात्राणि = शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रमिति, 'तन्मात्र'—'सूक्ष्म'—पर्यायवाच्यानि। तत एकादशेन्द्रियाणि-श्रोत्रं, त्वक्, चक्षुः, जिह्वा, घ्राणमिति पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानीति पञ्च कर्मेन्द्रियाणि। उभयात्मकमेकादशं मनश्च। एष षोडशको गणोऽहङ्कारादुत्पद्यते। किंच—पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि। तस्मात् षोडशकाद् गणात् पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः सकाशात् पञ्च वै महाभूतान्युत्पद्यन्ते। यदुक्तं—शब्दतन्मात्रादाकाशं, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, रूपतन्मात्रात्तेजः गन्धतन्मात्रात् पृथिवी, एवं पञ्चभ्यः परमाणुभ्यः—पञ्च महाभूतान्युत्पद्यन्ते॥ २२॥

भाष्यानु०—अब सृष्टि-क्रम का विभाग दिखाने के लिए कहते हैं—प्रकृतेर्महान् प्रकृति प्रधान, ब्रह्म, अव्यक्त, बहुधानक, माया ये पर्यायवाची शब्द हैं (अर्थात् प्रकृतिको इन शब्दों से कहा जाता है) अलिङ्ग (जो कार्य नहीं केवल कारण है) प्रकृति से महान् उत्पन्न होता है। महान्, बुद्धि, आसुरी, मति, ख्याति, ज्ञान और प्रज्ञा ये इसके पर्याय हैं। ततोऽहङ्कारः इस महान् से अहङ्कार उत्पन्न होता है, अहङ्कार, भूतादि, वैकृत, तैजस, अभिमान् ये इस (अहङ्कार-) के पर्याय हैं। तस्माद्गणश्च षोडशकः उस अहङ्कार से सोलह रूपोंवाला गण = समूह उत्पन्न होता है, वह जैसे—पाँचतन्मात्राएँ—शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, और गन्धतन्मात्र, ये तन्मात्र सूक्ष्म पर्यायवाची हैं, उनसे ग्यारह इन्द्रियाँ—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण ये ५ बुद्धीन्द्रियाँ, वाक्, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ ये ५ कर्मेन्द्रियाँ और (ज्ञान-कर्म) उभयात्मक मन यह सोलह का समूह अहङ्कार से उत्पन्न होता है। तस्मादपि० उस सोलह के समूह में भी पाँचों तन्मात्राओं से पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं। जैसा कि कहा है—शब्दतन्मात्रा से आकाश, स्पर्शतन्मात्रा से वायु, रूपतन्मात्रा से तेज, रसतन्मात्रा से जल और गन्धतन्मात्रा से पृथ्वी, इस

प्रकार पाँच (तन्मात्राओं के) परमाणुओं से पाँच महाभूत (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी) उत्पन्न होते हैं ॥ २२ ॥

[बुद्धि के लक्षण और धर्म]

अध्यवसायो बुद्धिः, धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद्रूपं, तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥ २३ ॥

अन्वय—अध्यवसायः, बुद्धिः, धर्मो, ज्ञानं, विरागः, ऐश्वर्यं, एतत्, सात्विकं रूपम्, अस्माद्, विपर्यस्तं, तामसम् ।

अर्थ—अध्यवसाय ही बुद्धि हैं, धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य यह (इसका) सात्त्विक रूप है और इसके विपरीत तामस रूप हैं ।

भाष्यम्—यदुक्तं 'व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानान्मोक्ष' इति, तत्र महदादि भूतान्तं त्रयोविंशतिभेदं व्यक्तं व्याख्यातम् । अव्यक्तमपि 'भेदानां परिमाणात्' इत्यादिना व्याख्यातम् । पुरुषोऽपि 'सङ्घातपरार्थत्वात्' इत्यादिभिर्हेतुभिर्व्याख्यातः । एवमेतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि, यत्तैस्त्रैलोक्यं व्याप्तं जानाति, तस्य भावोऽस्तित्वम् । यथोक्तं—

'पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र यत्राऽऽश्रमे रतः ।
जटी, मुण्डी, शिखी वापि, मुच्यते नात्र संशयः ॥'

तानि यथा,–प्रकृतिः, पुरुषो, बुद्धिरहङ्कारः, पञ्च तन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि इति । एतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि ।

तत्रोक्तं "प्रकृतेर्महानुत्पद्यते' । तस्य महतः किं लक्षणमित्येतदाह–अध्यवसायो बुद्धिलक्षणम् । अध्यवसानम्-अध्यवसायः । यथा बीजे भविष्यद्वृत्तिकोऽहङ्कारस्तद्वदध्यवसायः–'अयं घटः' 'अयं पट' इत्येवमध्यवस्यति या सा 'बुद्धि'रिति लक्ष्यते । सा च बुद्धिरष्टाङ्गिका, सात्त्विक-तामसरूपभेदात् । तत्र बुद्धेः सात्विकं रूपं चतुर्विधं भवति । धर्मो, ज्ञानं, वैराग्यमैश्वर्यं चेति । तत्र धर्मो नाम–दयादानयमनियमलक्षणः । तत्र यमाः, नियमाश्च पातञ्जलेऽभिहिताः–'अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः' । 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः' । ज्ञानं, प्रकाशोऽवगमो, भानमिति पर्यायाः । तच्च द्विविधं–बाह्यमाभ्यन्तरं चेति । तत्र बाह्यं नाम–वेदाः शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तच्छन्दोज्यौतिषाख्यषडङ्गसहिताः, पुराणानि, न्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणि चेति । आभ्यन्तरं–प्रकृतिपुरुषज्ञानम् । इयं प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था, अयं पुरुषः सिद्धो, निर्गुणो व्यापी,

साथ पकड़ा गया निर्दोष व्यक्ति भी चोर ही समझा जाता है, इसी प्रकार तीनों गुण कर्त्ता हैं उनसे संयुक्त पुरुष कर्त्ता न होने हुए भी कर्त्ता के संयोग से कर्त्ता मान लिया जाता है। इस प्रकार व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ (कार्य कारण और पुरुष) इनके विभाग की व्याख्या हो गई, जिस विभाग को जानने से मोक्ष प्राप्ति होती है ॥ २० ॥

[प्रकृति-पुरुष के संयोग में हेतु]

पुरुषस्य दर्शनार्थं, कैवल्यार्थं अथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥

अन्वय—पुरुषस्य, दर्शनार्थं, तथा, प्रधानस्य, कैवल्यार्थं पङ्गु-अन्धवत्, उभयोरपि, संयोगः, तत्कृतः, सर्गः ।

अर्थ—पुरुष का (प्रधान के साथ संयोग) दर्शन के लिए और प्रधान का (पुरुष के साथ संयोग) कैवल्य के लिए होता है। (इस प्रकार) लूले और अन्धे की तरह इन दोनों का संयोग होता है और इसी से सृष्टि होती है।

भाष्यम्—अथैतयोः प्रधान-पुरुषयोः किं हेतुः सङ्घातः ? उच्यते—पुरुषस्य प्रधानेन सह संयोगो दर्शनार्थम् । प्रकृतिं, महदादिकार्यंभूतपर्यन्तं पुरुषः पश्यति एतदर्थं, प्रधानस्यापि-पुरुषेण सह संयोगः कैवल्यार्थम् । स च संयोगः पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि द्रष्टव्यः । यथा एकः पुङ्गुरेकश्चान्धः, एतौ द्वावपि गच्छन्तौ महता सामर्थ्येनाटव्यां सार्थस्य स्तेनकृतादुपप्लवात् स्वबन्धुपरित्यक्तौ दैवादितश्चेतश्च चेरतुः। स्वगत्या च तौ संयोगमुपयातौ। पुनस्तयोः स्ववचसो-विश्वस्तत्वेन संयोगो गमनार्थं दर्शनार्थं च भवति। अन्धेन पङ्गुः स्कन्धमारोपितः, एवं शरीरारूढपङ्गुदर्शितेन मार्गेणाऽन्धो याति, पङ्गुश्चाऽन्धस्कन्धारूढः। एवं प्रधाने क्रियाशक्तिरस्त्यन्धवत्, न पुरुषे दर्शनशक्तिरस्ति, पङ्गुवत् न क्रिया, प्रधाने क्रियाशक्तिरस्त्यन्धवत्, न दर्शनशक्तिः। यथा वाऽनयोः पङ्ग्वन्धयोः कृतार्थविभागो भविष्यतीप्सितस्थान-प्राप्तयोः, एवं प्रधानमपि पुरुषस्य मोक्षं कृत्वा निवर्तते, पुरुषोऽपि प्रधानं दृष्ट्वा कैवल्यं गच्छति, तयोः कृतार्थयोर्विभागो भविष्यति। किञ्चान्यत्—तत्कृतः सर्गः तेन संयोगेन कृतस्तत्कृतः, सर्गः=सृष्टिः। यथा स्त्री-पुरुषसंयोगात् सुतोत्पत्तिस्तथा प्रधानपुरुष संयोगात् सर्गस्योत्पत्तिः ॥ २१ ॥

भाष्यानु०—(प्रश्न-) अब इन दोनों—प्रकृति और पुरुष का सङ्घात (संयोग) किस कारण से होता है ? (उत्तर-) कहते हैं—पुरुषस्य०—पुरुषका

प्रधान के साथ संयोग दर्शन के लिए होता है अर्थात् प्रकृति तथा महत् से लेकर महाभूत पर्यन्त (सम्पूर्ण) कार्य जात को पुरुष देखता है इसलिये (उसका संयोग होता है)। और कैवल्यार्थं० प्रधान का भी पुरुष के साथ संयोग कैवल्य के लिये होता है। पङ्ग्वन्ध० इन दोनों का यह संयोग लंगड़े और अन्धे के संयोग के समान समझना चाहिये, जैसे एक लंगड़ा और एक अन्धा अलग-अलग बड़े जनसमूह के साथ जा रहे थे। मार्ग में चोरों के आतंक से भगदड़ मची, वे दोनों अपने साथियों से छूट गये और इधर-उधर भटकने लगे भाग्य से दोनों की भेंट हो गयी और एक दूसरे की बातों पर विश्वास करते हुए उन दोनों का संयोग गमन तथा दर्शन के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ। अन्धे ने लूले को कन्धे पर चढ़ा लिया। अब लूला रास्ता बताता था और उसी पर अन्धा उसे ले चलता था। इस प्रकार अन्धा कन्धे पर चढ़े हुए लूले के द्वारा प्रदर्शित मार्ग से तथा लूला अन्धे के कन्धे द्वारा, अपने गन्तव्य मार्ग को पार करते थे। ऐसे ही लूले की तरह पुरुष में भी दर्शन शक्ति तो है पर क्रियाशक्ति नहीं और अन्धे की तरह प्रधान में क्रियाशक्ति तो है पर दर्शनशक्ति नहीं। अथवा जैसे ये दोनों (लूला और अन्धा) अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच कर अलग-अलग हो जायेंगे ऐसे ही प्रधान भी पुरुष का मोक्ष करके निवृत्त हो जाता है और पुरुष भी प्रधान को देखकर कैवल्य को प्राप्त होता है। वे दोनों (प्रधान और पुरुष) कृतार्थ होकर अलग हो जाते हैं। और क्या—तत्कृतः सर्गः उस संयोग से ही यह सर्ग = सृष्टि होती है अर्थात् जैसे स्त्री-पुरुष के संयोग से बच्चा उत्पन्न होता है ऐसे ही प्रकृति-पुरुष के संयोग से यह सृष्टि उत्पन्न होती है॥ २१॥

[सृष्टि का क्रम]

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥ २२॥

अन्वय—प्रकृतेः, महान्, ततः, अहङ्कारः, तस्मात्, षोडशकः, गणश्च, तस्मात्, अपि षोडशकात् पंचभ्यः पंचभूतानि (भवन्ति)।

अर्थ—प्रकृति से महान्, उससे अहङ्कार, उस (अहङ्कार) से सोलह का समूह और उस सोलह में भी ५ (तन्मात्राओं) से ५ महाभूत उत्पन्न होते हैं।

'अभिमानोऽहङ्कार' इत्यभिमानलक्षणोऽभिमानवृत्तिश्च। 'सङ्कल्पकं मन' इति लक्षणमुक्तं तेन सङ्कल्प एव मनसो वृत्तिः त्रयस्य = बुद्ध्यहङ्कारमनसां स्वालक्षण्या वृत्तिः—असामान्या या प्रागभिहिता। बुद्धीन्द्रियाणां च वृत्तिः साऽप्यसामान्यैवेति। इदानीं वृत्तिराख्यायते—सामान्यकरणवृत्तिः। सामान्येन करणानां वृत्तिः—प्राणाद्याः वायवः पञ्च। प्राणाऽपानसमानोदानव्याना इति पञ्च वायवः—सर्वेन्द्रियाणां सामान्या वृत्तिः। यतः प्राणो नाम वायुर्मुखनासिकान्तर्गोचरः, तस्य यत् स्पन्दनं कर्म तस्य त्रयोदशविधस्याऽपि सामान्या वृत्तिः सति प्राणे यस्मात् करणानामात्मलाभ इति। प्राणोऽपि पञ्जरशकुनिवत् सर्वस्य चलनं—करोतीति। प्राणनात्—'प्राण' इत्युच्यते। तथाऽपनयनादपानः। तत्र यत् स्पन्दनं तदपि सामान्यवृत्तिरिन्द्रियस्य। तथा समानो मध्यदेशवर्ती य आहारादीनां समं नयनात् समानो वायुः तत्र यत् स्पन्दनं तत्—सामान्यकरणवृत्तिः। तथा ऊर्ध्वारोहणादुत्कर्षादुन्नयनाद्वा उदानो नाभिदेशान्मस्तकान्तर्गोचरः तत्रोदाने यत् स्पन्दनं तत् सर्वेन्द्रियाणां सामान्यवृत्तिः। किञ्च शरीरव्याप्तिरभ्यन्तरविभागश्च येन क्रियतेऽसौ शरीरव्याप्याकाशवद्व्यानः। तत्र यत् स्पन्दनं तत् करणजालस्य—सामान्या वृत्तिरिति। एवमेते पञ्च वायवः—सामान्यकरणवृत्तिरिति व्याख्याताः। त्रयोदशविधस्यापि करणसामान्या वृत्तिरित्यर्थः॥ २९॥

भाष्यानु०—अब बुद्धि, अहङ्कार और मन का (व्यापार तथा लक्षण) कहे जाते हैं—स्वालक्षण्यं वृत्तिः (स्वालक्षण्य) स्व (अपना) लक्षण ही है वृत्ति (स्वभाव) जिसका, अर्थात् जिसका जो लक्षण है वहीं वृत्ति भी है जैसे अध्यवसाय ही बुद्धि का लक्षण है ऐसा (कारिका में) कहा है अतः वही (अध्यवसाय ही) बुद्धि का व्यापार भी हुआ। 'अभिमान ही अहङ्कार है' यह अहङ्कार का लक्षण कहा है अतः अभिमान ही उसका व्यापार भी हुआ। 'सङ्कल्पक' मन है ऐसा मन का लक्षण किया है इसलियें संकल्प ही मन का व्यापार हुआ। बुद्धि, अहङ्कार और मन इन तीनों की यह स्वलक्षणात्मिका वृत्ति असामान्या होती है। पहिली कारिका में ज्ञानेन्द्रियों की जो वृत्तियाँ कही हैं वे भी असामान्य ही हैं। अब सामान्य वृत्ति कही जाती है—सामान्य० सामान्य = साधारणरूप से करणों = इन्द्रियों की वृत्ति = व्यापार है। प्राणाद्याः० प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान ये पाँच वायु हैं जो सब इन्द्रियों के समान रूप से व्यापार हैं। क्योंकि प्राणनामक वायु यद्यपि मुख और नासिका के

भीतर रहता है किन्तु उसका जो स्पन्दन रूप कर्म है वह तेरहों (मन बुद्धि अहङ्कार तथा १० इन्द्रियों) का सामान्य व्यापार है। क्योंकि प्राण होने पर ही इन तेरहों को आत्मप्राप्ति होती है। प्राण भी पिंजड़े के पक्षी की भाँति सबका संचालन करता है। प्राणन (श्वसन) करने से ही इसे प्राण कहते हैं। इसी प्रकार अपनयन (हटाने) से ही अपान कहते हैं। उसमें भी जो स्पन्दन होता है वह सभी इन्द्रियों का सामान्य व्यापार है। ऐसे ही समान (वायु) मध्यदेश में रहता है। जो आहार आदि की एकरसता को प्राप्त करता है इसीलिये उसे समान (समं नयति) वायु कहते हैं। उसमें जो स्पन्दन होता है वह भी सब इन्द्रियों का सामान्य व्यापार है। ऐसे ही ऊपर की ओर आरोहण करने से, उत्कर्ष से अथवा उन्नयन के कारण इसे उदान कहते हैं। यह नाभि प्रदेश से मस्तक के अन्दर तक रहता है। उस उदान में जो स्पन्दन होता है वह भी सब इन्द्रियों की सामान्य वृत्ति ही है। सम्पूर्ण शरीर में जो व्याप्त है और अभ्यन्तर का विभाग करता है वह शरीरान्तर्वर्ती आकाश की तरह व्यान वायु है। उसमें जो स्पन्दन होता है वह भी सब इन्द्रियों की सामान्य वृत्ति है। इस प्रकार सामान्य इन्द्रिय वृत्ति वाले पाँच वायुओं की व्याख्या हो गई अर्थात् उन वायुओं की जो तेरहों प्रकार की सामान्य वृत्ति हैं ॥ २९ ॥

[वृत्ति की क्रमिकता]

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः, क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा।
दृष्टे, तथाऽप्यदृष्टे, त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ ३० ॥

अन्वय—**दृष्टे, चतुष्टयस्य, तु, वृत्तिः, युगपत्, तस्य, क्रमशश्च, निर्दिष्टा, तथापि, अदृष्टे, तु, त्रयस्य, तत्पूर्विका, वृत्तिः।**

अर्थ—दृष्ट (पदार्थ के) विषय में चारों (मन, बुद्धि, अहंकार और एक इन्द्रिय) का एक साथ व्यापार होता है और उसका क्रमशः भी व्यापार कहा गया है, किन्तु अदृष्ट के विषय में तो तीनों (मन, बुद्धि, अहंकार) का इन्द्रिय-पूर्वक ही व्यापार होता है।

भाष्यम्—युगपच्चतुष्टयस्य। **बुद्धयहङ्कारमनसामेकैकेन्द्रियसम्बन्धे सति चतुष्टयं भवति। चतुष्टयस्य दृष्टे=प्रतिविषयाध्यवसाये युगपद्वृत्तिः। बुद्धय-हङ्कारमनश्चक्षूंषि—युगपदेककालं रूपं पश्यन्ति–'स्थाणुरय'मिति। बुद्धय-हङ्कार-मनो-जिह्वा-युगपद्रसं गृह्णन्ति। बुद्धय-हङ्कार मनो-घ्राणानि—युगपद्**

किया है, न अहङ्कार ने, न बुद्धिने, न प्रधानने, न पुरुष ने, प्रत्युत स्वभाव से ही होने वाले गुणों के परिणाम से यह होता है। (प्रश्न—) गुण तो अचेतन हैं उनसे परिणाम में प्रवृत्ति नहीं होगी। (उत्तर—) होती है। (प्रश्न—) कैसे ? (उत्तर—) आगे कहा जायगा (५७वीं कारिकामें) वछड़ेके शरीर को पुष्ट करने और उसे दढ़ाने में जैसे जड़ दूध की प्रवृत्ति होती है ऐसे पुरुष के मोक्ष के निमित्त जड़ प्रधान की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार अचेतन गुण ११ इन्द्रियों के होने मे प्रवृत्त होते हैं। विशेष भी उन्हीं से प्रवृत्त होता है। जैसे नेत्र उँचे प्रदेश (ललाट पर) इसलिये बने हैं कि वे सब कुछ देख सके। ऐसे ही नासिका श्रोत्र जिह्वा आदि उस-उस प्रदेश में अपने-अपने अर्थ (विषय) को ग्रहण करने के लिये हैं। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियाँ भी यथावत् अपने-अपने स्थान पर स्थित हुई स्वभावतः गुणपरिणाम विशेष से ही अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। (यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि) इन्द्रियों के अर्थ भी अपने भिन्न अर्थों को क्यों ग्रहण नहीं करते (क्योंकि) शास्त्रान्तर में कहा है—'गुण गुणों में ही रहते हैं' गुणों के व्यापार गुणों में ही रहते हैं अर्थ तो गुणों से बाह्य होते हैं। और गुणों के कार्यरूप होते हैं। यह कहना चाहिये। प्रधान जिनका कारण होता है॥ २७॥

[इन्द्रियों की वृत्तियां]

रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।
वचनाऽऽदानविहरणोत्सर्गाऽऽनन्दाश्च पञ्चानाम्॥ २८॥

अन्वय—रूपादिषु, पञ्चानाम्, आलोचनमात्रं, वृत्तिः, इष्यते, पञ्चानां, वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च।

अर्थ—रूपादियों में पाँचों (ज्ञानेन्द्रियों) की आलोचना मात्र वृत्ति मानी जाती है। बोलना, लेना, बिहार करना, उत्सर्ग और आनन्द ये पाँचों (कर्मेन्द्रियों) के व्यापार हैं।

भाष्यम्—अथेन्द्रियस्य कस्य का वृत्तिरिति ?। उच्यते। 'मात्र' शब्दो विशेषार्थोऽविशेषव्यावृत्यर्थो, यथा—'भिक्षामात्रं लभ्यते' नान्यो विशेष इति। तथा चक्षू रूपमात्रे, न रसादिषु। एवं शेषाण्यपि। तद्यथा—चक्षुषो—रूपं, जिह्वाया—रसः, घ्राणस्य—गन्धः, श्रोत्रस्य—शब्दः, त्वचः—स्पर्शः। एवमेषां बुद्धीन्द्रियाणां वृत्तिः कथिता। कर्मेन्द्रियाणां वृत्तिः कथ्यते—वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम्। कर्मेन्द्रियाणामित्यर्थः। वाचो वचनं,

हस्तयोरादानं, पादयोर्विहरणं, पायोर्भुक्तस्याऽऽहारस्य, परिणतमलोत्सर्गः, उपस्थस्य-आनन्दः=सुतोपत्तिविषया वृत्तिरिति सम्बन्धः ॥ २८ ॥

भाष्यानु०—अब इन्द्रियों में किस (इन्द्रिय) की क्या वृत्ति (विशेष व्यापार) है यह करते हैं—रूपादिषु०—इत्यादि (आलोचन मात्र में) मात्र शब्द का अर्थ है विशेष। अविशेष से आवृत्ति ही इसका प्रयोजन है। जैसे "भिक्षामात्र ही मिलती है और विशेष कुछ नहीं" [यहाँ पर मात्र शब्द भिक्षा से अतिरिक्त अन्य विशेष पदार्थों का व्यावर्तक है।] इसी प्रकार चक्षु रूप मात्र में [आलोचननिर्विकल्पकज्ञान वृत्ति वाला है] रसादि में नहीं, इसी प्रकार शेष भी जैसे—चक्षु का रूप, जिह्वा का रस, घ्राणका गन्ध श्रोत्र का शब्द, त्वचा का स्पर्श (यही आलोचन व्यापार) है। इस प्रकार इन ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार कह दिये। अब कर्मेन्द्रियों के व्यापार कहे जाते हैं—वचना० (पञ्चानाम् का अर्थ है। पाँच कर्मेन्द्रियों का) वाक् (इन्द्रिय) का बोलना, पाणिका आदान (लेना-देना), पाद का विहरण, पायुका खाये हुए आहार के परिणाम रूप मलका त्याग करना और उपस्थ का आनन्द = पुत्रोत्पत्तिविषयक व्यापार (मैथुन) यह सम्बन्ध है।[1] ॥ २८ ॥

[अन्तःकरण की वृत्ति के दो प्रकार]

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ २९ ॥

अन्वय—**स्वालक्षण्यं, त्रयस्य, वृत्तिः सा, एषा, असामान्या, भवति, प्राणाद्याः, पञ्च, वायवः, सामान्यकरणवृत्तिः।**

अर्थ—अपना-अपना लक्षण ही तीनों (मन, बुद्धि, अहङ्कार) की वृत्ति (व्यापार) भी है। और वह यह वृत्ति असाधारण होती है। प्राणादि पाँच वायु सब करणों (इन्द्रियों) की साधारण वृत्ति है।

भाष्यम्०—**अधुना बुद्ध्यहङ्कारमनसामुच्यते, —स्वलक्षणस्वभावा—स्वालक्षण्या। 'अध्यवसायो बुद्धि' रिति लक्षणमुक्तं, सैव बुद्धिवृत्तिः। तथा**

---

१. ये दशों इन्द्रियों के असाधारण व्यापार कहे हैं। ये ही व्यापार उनके लक्षण भी हैं। जैसे रूपाद्यालोचन चक्षु का व्यापार है और रूपाद्यालोचनव्यापारवत्त्व चक्षु का लक्षण भी है। इसी प्रकार स्पर्शालोचन त्वचा का व्यापार और स्पर्शाद्यालोचनव्यापारत्त्व स्पर्श का लक्षण होगा इसी प्रकार सभी इन्द्रियों के व्यापार व लक्षण समझने चाहिये।

[मनका इन्द्रियत्व और उसका लक्षण]

उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियञ्च, साधर्म्यात् ।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥

अन्वय—अत्र, मनः, उभयात्मकम्, सङ्कल्पकम्, इन्द्रियञ्च, साधर्म्यात्, गुणपरिणामविशेषात्, नानात्वं, बाह्यभेदाः, च ।

अर्थ—इनमें मन उभयात्मक (ज्ञानेन्द्रियरूप और कर्मेन्द्रियरूप) है, सङ्कल्प करनेवाला भी है और समान धर्मवाला होने से इन्द्रिय भी है, गुणों के परिणाम विशेष से (सत्त्वादि के वैषम्य से उत्पन्न अदृष्टसे) इन्द्रियों में नानात्व और बाह्य अर्थों में भेद होता है ।

भाष्यम्—एवं बुद्धीन्द्रिय-कर्मेन्द्रियभेदेन दशेन्द्रियाणि व्याख्यातानि । मन एकादशकं किमात्मकं, किस्वरूपं चेति ? तदुच्यते–अत्र = इन्द्रियवर्गे मन उभयात्मकम् । बुद्धीन्द्रियेषु बुद्धिन्द्रियवत्, कर्मेन्द्रियेषु कर्मेन्द्रियवत् । कस्माद् ? । बुद्धीन्द्रियाणां प्रवृत्तिं कल्पयति, कर्मेन्द्रियाणां च, तस्मादुभयात्मकं मनः । सङ्कल्पयतीति सङ्कल्पकम् । किञ्चान्यत् इन्द्रियं च, साधर्म्यात् = समानधर्मभावात्, सात्त्विकादहङ्काराद् बुद्धीन्द्रियाणि, कर्मेन्द्रियाणि मनसा सहोत्पद्यमानानि मनसः साधर्म्यं प्रति, तस्मात् साधर्म्यान्मनोऽपीन्द्रियम् । एवमेतान्येकादशेन्द्रियाणि सात्त्विकाद्वैकृतादहङ्कारादुत्पन्नानि । तत्र मनसः का वृत्तिरिति सङ्कल्पो—वृत्तिः । बुद्धीन्द्रियाणां—शब्दादयो वृत्तयः, कर्मेन्द्रियाणां–वचनादयः ।

अथैतानीन्द्रियाणि भिन्नानि = भिन्नार्थग्राहकाणि—किमीश्वरेण, उत स्वभावेन कृतानि ? । यतः प्रधानबुद्ध्यहङ्कारा अचेतनाः पुरुषोऽप्यकर्तेति । अत्राह इह साङ्ख्यानां स्वभावो नाम कश्चित्कारणमस्ति । अत्रोच्यते–गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं, बाह्यभेदाश्च । इमान्येकादशेन्द्रियाणि । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चानां, वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानां, सङ्कल्पश्च–मनसः । एवमेते भिन्नानामेवेन्द्रियाणामर्थाः गुणपरिणाम-विशेषात् । गुणानां परिणामो गुणपरिणामस्तस्य विशेषादिन्द्रियाणां नानात्वं बाह्यार्थभेदाश्च । अथैतन्नानात्वं नेश्वरेण, नाऽहंकारेण, न बुद्ध्या, न प्रधानेन, न पुरुषेण । (किन्तु) स्वभावात् कृतगुणपरिणामेनेति । गुणानामचेतनत्वान्न प्रवर्त्तते ? प्रवर्तत एव । कथम् ? । वक्ष्यतीहैव–'वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य । पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ।' एवमचेतना गुणा एकादशेन्द्रियभावेन प्रवर्तन्ते, विशेषोऽपि तत्कृत एव, येनोच्चैः प्रदेशे चक्षुरवलोकनाय स्थितं, तथा

घ्राणं, तथा श्रोत्रं, तथा जिह्वा स्वदेशे स्वार्थग्रहणाय एवं तदर्था अपि । यत उक्तं शास्त्रान्तरे—'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' गुणानां या वृत्तिः सा गुणविषया एवेति बाह्यार्था—विज्ञेया गुणकृता एवेत्यर्थः प्रधानं यस्य कारणमिति ।। २७ ।।

भाष्यम्०—इस प्रकार बुद्धीन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय) और कर्मेन्द्रिय भेद से दश इन्द्रियों की व्याख्या की गई । ग्यारहवाँ मन क्या ? और उसका लक्षण क्या है ? इस पर कहते हैं—इस इन्द्रिय समूह में मन उभयात्मक (ज्ञानेन्द्रिय रूप भी और कर्मेन्द्रिय रूप भी) है । ज्ञानेन्द्रियों में ज्ञानेन्द्रियों की तरह और कर्मेन्द्रियों में कर्मेन्द्रियों की तरह । कैसे ? ज्ञानेन्द्रियों का सा व्यवहार भी करता है और कर्मेन्द्रियों का सा व्यवहार भी, इसीलिये उभयात्मक है । वह सङ्कल्प करता है इसीलिये सङ्कल्पक है । और (इन्द्रियों के) समान धर्मवाला होने से (वह इन्द्रिय भी है) । सात्त्विक अहङ्कार से ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ मन के साथ ही उत्पन्न होती हैं । इसीलिये मन से उनकी समानधर्मता है । इसी साधर्म्य के कारण मन भी इन्द्रिय है । इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियाँ सात्त्विक वैकृत अहङ्कार से उत्पन्न होती हैं । (प्रश्न—) इनमें मन की क्या वृत्ति (व्यवहार) है ? (उत्तर—) सङ्कल्प ही मन की वृत्ति है, जैसे कि ज्ञानेन्द्रियों की शब्दादि वृत्तियाँ हैं और कर्मेन्द्रियों की वचनादि । (प्रश्न—) अब इन इन्द्रियों को भिन्न स्वरूपवाली तथा भिन्न-भिन्न विषयों को ग्रहण करनेवाली ईश्वर ने किया ? अथवा ये स्वभाव से ही ऐसी हो गई ? क्योंकि प्रधान बुद्धि और अहङ्कार तो अचेतन (जड़) हैं । (इसलिए वे इनको ऐसा बना नहीं सकते), पुरुष भी अकर्ता है [अर्थात् पुरुष में कर्तृत्व है ही नहीं इसलिये उनके बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता] (उत्तर—) इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि साङ्ख्यों के मत में स्वभाव नाम का कोई एक इनकी विभिन्नता में कारण माना गया है । इसी को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं—गुण परिणाम० ये ग्यारह इन्द्रियाँ हैं । शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध ये पाँच (ज्ञानेन्द्रियों) के, वचन आदान विहरण उत्सर्ग और आनन्द ये पाँच (कर्मेन्द्रियों) के, तथा सङ्कल्प मन का, इस प्रकार ये भिन्न-भिन्न अर्थ (विषय) हैं । गुण परिणाम के विशेष से अर्थात् गुणों का जो परिणाम (वैषम्य) वह गुणपरिणाम हुआ उसके विशेष से (सत्त्व रजस् तमस् के वैषम्य से उत्पन्न अदृष्ट से) इन्द्रियों में नानात्व और उनके बाह्य अर्थों में भेद होता है । अब यह (सिद्ध हो गया कि) नानात्व न ईश्वर ने

सात्त्विको निष्क्रियः, स तैजसयुक्त इन्द्रियोत्पत्तौ समर्थः। तथा तामसोऽहङ्कारो भूतादिसंज्ञितो निष्क्रियत्वात् तैजसेनाहङ्कारेण क्रियावता युक्तस्तन्मात्राण्युत्पादयति। तेनोक्तं—तैजसादुभयमिति। एवं तैजसेनाऽहङ्कारेणेन्द्रियाण्येकादश, पञ्च तन्मात्राणि कृतानि भवन्ति ॥ २- ॥

भाष्यानु०—किस प्रकार अहङ्कार से सृष्टि होती है ? इस पर कहते हैं—जब सत्त्व प्रबल रहता है और रजस् तमस् उससे दबे रहते हैं, तब वह सात्त्विक अहङ्कार कहलाता है। उसी को पूर्वाचार्यों ने वैकृत नाम से कहा है। उससे सात्त्विक विशुद्ध ग्यारह इन्द्रियों का प्रादुर्भाव होता है जो अपने-अपने विषयों (शब्द-स्पर्श-रूप-रसादि) को ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। इसलिये कहा है--सात्त्विक० और भूतादे० जब तमोगुण से सात्त्विक और राजस् अहङ्कार अभिभूत रहते हैं तब वह तामस अहङ्कार कहलाता है। उसको पूर्वाचार्यों ने भूतादि नाम से कहा है। उस भूतादि अहङ्कार से ५ तन्मात्राओं का समूह उत्पन्न होता है। क्योंकि यह भूतों (आकाशादि) से आदि में होता है (तन्मात्राओं से ही आकाशादि उत्पन्न होते हैं) इसलिये इसे भूतादि, और तमोगुण प्रधान होने से तामस कहते हैं। इसी भूतादि अहङ्कार से तन्मात्राओं का समूह उत्पन्न होता है और तैजसा०—जब रजोगुण से सात्त्विक तथा तामस अहङ्कार अभिभूत रहते हैं तब वह अहङ्कार तैजस नाम से कहलाता है। उससे दोनों प्रकार का सर्ग अर्थात्—एकादश इन्द्रिय तथा ५ तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं।[1] यह सात्त्विक अहंकार वैकृत होकर जब इन्द्रियों को उत्पन्न करता है तब इस तैजस अहंकार की सहायता लेता है। क्योंकि सात्त्विक तो निष्क्रिय होता है क्रिया राजस में ही होती है इसलिये वह तैजसयुक्त होने पर ही इन्द्रियों की उत्पत्ति में समर्थ होता है। इसी प्रकार भूतादिसंज्ञक तामस अहंकार भी निष्क्रिय होता है। इसलिये

१. शंका—पहिले कह चुके हैं कि सात्त्विक या वैकृत अहङ्कार से ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है और तामस या भूतादि नामक अहङ्कार से पंचतन्मात्राओं की, अब कहते हैं कि तैजस अहङ्कार से इन दोनों—११ इन्द्रिय और पंच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है, यह सन्देह हो जाता है कि जो सात्त्विक और तामस से उत्पन्न हो चुकीं वे ही राजस से कैसे उत्पन्न होंगी ? इसी शंकाका समाधान आगे करते हैं।

वह भी तैजस अहंकार से युक्त होकर ही तन्मात्राओं को उत्पन्न कर सकता है। इसीलिये कहा है तैजस अहङ्कार से दोनों उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार तैजस द्वारा दोनों—११ इन्द्रियाँ और ५ तन्मात्राएँ—उत्पन्न समझी जाती हैं ॥ २५ ॥

[इन्द्रियविभाग]

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥ २६ ॥

अन्वय—**चक्षुः-श्रोत्र-घ्राण-रसन-त्वगाख्यानि, बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणि-पादपायूपस्थानि, कर्मेन्द्रियाणि, आहुः ॥ २६ ॥**

अर्थ—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा नामक ५ ज्ञानेन्द्रियाँ और वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये ५ कर्मेन्द्रियाँ कही जाती हैं।

भाष्यम्—'सात्त्विक एकादशक' **इत्युक्तो यो वैकृतात् सात्त्विकादहङ्कारादुत्पद्यते, तस्य का संज्ञेत्याह,—चक्षुरादीनि स्पर्शनपर्यन्तानि** बुद्धीन्द्रियाण्युच्यन्ते। **स्पृश्यतेऽनेनेति स्पर्शनं = त्वगिन्द्रियं, तद्वाची सिद्धः स्पर्शनशब्दोऽस्ति, तेनेदं पठ्यते—**स्पर्शनकानीति। **शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् पञ्च विषयान् बुध्यन्ते अवगच्छन्तीति—**पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि। वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः। **कर्म कुर्वन्तीति—**कर्मेन्द्रियाणि। **तत्र वाग्वदति, हस्तौ नाना व्यापारं कुरुतः पादौ गमनाऽऽगमनं, पायुरुत्सर्गं करोति, उपस्थ आनन्दं—प्रजोत्पत्त्या ॥ २६ ॥**

भाष्यानु०—"सात्त्विक ग्यारह इन्द्रियों का समूह" ऐसा (पूर्व कारिकामें) कहा हुआ सात्त्विक ११ इन्द्रियों का समूह जो वैकृत सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न होता है उन (इन्द्रियों) के क्या नाम हैं ? इस शंका पर कहते हैं बुद्धीन्द्रियाणि० चक्षु से लेकर स्पर्शन पर्यन्त (५ इन्द्रियाँ) बुद्धीन्द्रियाँ कही जाती हैं। जिससे स्पर्श किया जाता है उसे स्पर्शन कहते हैं अर्थात् त्वगिन्द्रिय। इसका वाचक होने से स्पर्शन शब्द त्वगिन्द्रिय के लिये प्रसिद्ध है। इसलिए स्पर्शनकानि यह पढ़ा गया। शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन ५ विषयों का बोधन करती हैं अर्थात् उनको समझती हैं इसलिये बुद्धीन्द्रियाँ कही जाती हैं। वाक्० वाक्, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ ये ५ कर्मेन्द्रियाँ कही जाती हैं। इनमें वाणी बोलती है, हाथ नाना व्यापार करते हैं, पैरों से आया-जाया जाता है, पायु से मलत्याग होता है और उपस्थ से सन्तानोत्पत्तिजन्य आनन्द की प्राप्ति होती है ॥ २६ ॥

गन्धं गृह्णन्ति। तथा त्वक्श्रोत्रे अपि। किञ्च 'क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा'। तस्येति = चतुष्टयस्य, क्रमशश्च वृत्तिर्भवति। यथा कश्चित् पथि गच्छन् दूरादेव दृष्ट्वा 'स्थाणुरयं, पुरुषो वे'ति संशये सति, तत्रोपरूढं शकुनिं तल्लिङ्गं वा, पश्यति, ततस्तस्य मनसा सङ्कल्पिते संशये व्यवच्छेदभूता बुद्धिर्भवति—'स्थाणुरय'-मिति। अतो अहङ्कारश्च निश्चयार्थः 'स्थाणुरेवे'ति। एवं बुद्ध्यहङ्कारमनश्चक्षुषां क्रमशो वृत्तिर्दृष्टा। यथा रूपे, तथा शब्दादिष्वपि बोद्धव्या। दृष्टे = दृष्टविषये। किञ्चान्यत्? तथाऽप्यदृष्टत्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः। अदृष्टे-अनागतेऽतीते च काले, बुद्ध्यहङ्कारमनसां रूपे चक्षुःपूर्विका त्रयस्य वृत्तिः। स्पर्शे—त्वक्पूर्विका। गन्धे-घ्राणपूर्विका। रसे—रसपूर्विका। शब्दे-श्रवणपूर्विका बुद्ध्यहङ्कारमनसा-मनागते = भविष्यति कालेऽतीते च तत्पूर्विका-क्रमशो वृत्तिः। वर्तमाने युगपत्, क्रमशश्चेति ॥ ३० ॥

भाष्यानु०—युगपच्च० बुद्धि अहङ्कार और मन ये जब एक इन्द्रिय से मिलते हैं तब ये चार हो जाते हैं। इन चारों की दृष्ट—अर्थात् प्रत्येक विषय का निश्चय करने में वृत्ति एक साथ होती है। (जैसे—) बुद्धि अहङ्कार मन और चक्षु इन्द्रिय एक ही समय में रूप को देखते हैं और निश्चय करते हैं कि यह स्थाणु (खूँटा) आदि है। (इसी प्रकार) बुद्धि, अहङ्का, मन और जिह्वा एक साथ रस का ग्रहण करके निश्चय करते हैं (कि यह मधुर हैं अथवा अम्लादि है)। बुद्धि, अहङ्कार, मन और घ्राण एक साथ गन्ध को गहण करते हैं। (और उसकी सुरभिता या असुरभिता का निश्चय करते हैं।) ऐसे ही बुद्धि अहङ्कार और मन के साथ त्वचा और श्रोत्र भी (अपने-अपने विषयों—स्पर्श एवं शब्द को ग्रहण करते हैं)। किन्तु क्रमशश्च० उसकी अर्थात् (बुद्धि, अहङ्कार, मन और एक इन्द्रिय रूप) चतुष्टय की क्रमशः भी वृत्ति (व्यापार) होती है। जैसे कोई मार्ग में जाता हुआ दूर से ही "यह स्थाणु है या पुरुष" ऐसा संशय होने पर उसपर बैठे पक्षी को या उसमें विद्यमान किसी चिह्न को देखता है तो उसको मन में संकल्पित संशय के प्रति व्यवच्छेद—बुद्धि हो जाती है कि यह स्थाणु है। इसके बाद निश्चयार्थक अहङ्कार का व्यापार होता है कि यह स्थाणु हों है। इस प्रकार बुद्धि, अहङ्कार, मन और चक्षु की क्रमशः वृत्ति दिखाई गई है। जैसे रूप का उदाहरण दिया ऐसे ही

शब्दादि का भी समझना चाहिये। दृष्टे का अर्थ है दृष्ट के विषय में[1]। किन्तु तथाप्य० अदृष्ट अर्थात् अतीत या अनागत काल में तो रूप में बुद्धि अहङ्कार और मन की वृत्ति चक्षुपूर्विका होती है (अर्थात् चक्षु से रूप का प्रत्यक्ष पूर्वकाल में हो चुका है अतः उसके विषय में बुद्धि अहङ्कार और मन की क्रमशः वृत्ति होगी, ऐसे ही) स्पर्श में त्वक्पूर्विका, गन्ध में घ्राणपूर्विका, रस में रसपूर्विका, शब्द में श्रवणपूर्विका बुद्धि अहङ्कार तथा मन की अनागत अर्थात् भविष्य और अतीत (भूत) काल में क्रम से तत्तत् इन्द्रियपूर्विका वृत्ति होती है और वर्तमान में एक साथ होती है ॥३०॥

[पुरुषार्थ ही इन्द्रियों की प्रवृत्ति का हेतु]

स्वां-स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराऽऽकूतहेतुकां वृत्तिम् ।
पुरुषाऽर्थं एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम् ॥ ३१ ॥

अन्वय—**परस्पराकूतहेतुकां, स्वां, स्वां, वृत्ति, प्रतिपद्यन्ते, (अत्र) पुरुषार्थ, एव, हेतुः, करणं, न केनचित् कार्यते ।**

अर्थ—पुरुषार्थ सिद्धि के लिये बुद्धि आदि परस्पर एक दूसरे के आकूत (प्रवृत्ति की ओर उन्मुख होना) को जानकर अपने-अपने विषय को प्राप्त होते हैं। करणों को कोई प्रवृत्त नहीं करता (वे स्वयं ही प्रवृत्त होते हैं)।

भाष्यम्—**किञ्च-स्वां-स्वामिति वीप्सा। बुद्ध्यहङ्कारमनांसि स्वां-स्वां वृत्ति परस्पराकूतहेतुकाम्। 'आकूतमादरसम्भ्रमः' इति। प्रतिपद्यन्ते = पुरुषार्थ-करणाय बुद्ध्यहङ्कारादयः। बुद्धिरहङ्काराकूतं ज्ञात्वा स्वविषयं प्रतिपद्यते। किमर्थं-मिति चेत् ? पुरुषार्थ एव हेतुः। 'पुरुषार्थः कर्त्तव्य' इत्येवमर्थं गुणानां प्रवृत्तिः। तस्मादेतानि करणानि पुरुषार्थं प्रकाशयन्ति। यद्यचेतनानीति कथं स्वयं प्रवर्तन्ते ?। न केनचित् कार्यते करणम्। पुरुषार्थ एवैकः कारयतीति वाक्यार्थः। न केनचित्-ईश्वरेण, पुरुषेण वा, कार्यते = प्रबोध्यते, करणम् ॥३१॥**

---

१. जिस पदार्थ का इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष कर रही हैं उसके विषय में ही इन चारों की युगपद्वृत्ति कही जा सकती है।

भाष्यानु०—स्वां स्वां यह वीप्सा है। बुद्धि अहङ्कार और अपनी-अपनी वृत्ति को परस्पराकूतहेतुकां कहा है आकूत का अर्थ है आदर या संभ्रम[1]। पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिए बुद्धि अहङ्कार आदि परस्पर एक दूसरे के आकूत को जानकर अपने-अपने विषय को प्रतिपद्यन्ते = प्राप्त करते हैं। जैसे बुद्धि अहङ्कार के आकूत को जानकर अपने विषय को प्राप्त होती है (अर्थात् अपने विषय की ओर उन्मुख होती है)। (प्रश्न) क्यों प्रवृत्ति होती है? यदि यह पूछें तो (उत्तर-) पुरुषार्थ० पुरुषार्थ करना चाहिए, इसलिये गुणों की प्रवृत्ति होती है। इसलिये ये करण (१३ बाह्य और अन्तःकरण) पुरुषार्थ को प्रकाशित करते हैं। (प्रश्न) यदि ये (करण) अचेतन हैं तो स्वयं कैसे प्रकाशित होते हैं? (उत्तर—) न केन० केवल पुरुषार्थ ही करता है यह तात्पर्य है। न केनचित् का अर्थ है ईश्वर या पुरुष करणों को प्रबुद्ध नहीं करते अपितु वे स्वयं ही प्रवृत्त होते हैं॥ ३१॥

[करणों का लक्षण और उनका कार्य]

करणं त्रयोदशविधं, तदाहरण-धारण-प्रकाशकरम्।
कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं, प्रकाश्यञ्च॥ ३२॥

अन्वय—करणं, त्रयोदशविधं, तद्, आहरण-धारण-प्रकाशकरम्, तस्य, कार्यं, च, दशधा, आहार्यं, धार्यं, प्रकाश्यञ्च।

अर्थ—करण तेरह प्रकार का है वह आहरण धारण और प्रकाश करने वाला है, उसका कार्य दश प्रकार का है जो आहरण धारण और प्रकाश के योग्य हैं।

भाष्यम्—बुद्ध्यादि कतिविधं तदित्युच्यते-करणं त्रयोदशविधं बोद्धव्यम्। महदादित्रयं, पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि-चक्षुरादीनि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि—वागादीनीति-त्रयोदशविधं करणम्। तत् किं करोतीत्येतदाह—"तदाहरण-धारणप्रकाश-करम्"। तत्राऽऽहरणं, धारणं च—कर्मेन्द्रियाणि कुर्वन्ति। प्रकाशं—बुद्धीन्द्रियाणि। कतिविधं कार्यं तस्येति? तदुच्यते—कार्यं च तस्य दशधा। तस्य = करणस्य, कार्यं = कर्त्तव्यमिति। दशधा = दशप्रकारम्, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यं वचनादानविहरणो-

---

१. आकूत शब्द का अर्थ तो है अभिप्राय, किन्तु यहाँ बुद्धि आदि अचेतन पदार्थ एक दूसरे के अभिप्राय को समझ नहीं सकते। इसीलिये 'प्रवृत्ति की ओर उन्मुख होना' यह अर्थ लिया जायगा।

त्सर्गानन्दाख्यमेतद्दशविधं कार्यं । बुद्धीन्द्रियैः प्रकाशितं कर्मेन्द्रियाण्याहरन्ति धारयन्ति चेति ॥ ३२ ॥

भाष्यानु०—बुद्धि आदि (जो करण हैं) वे कितने प्रकार के हैं ? इस पर कहते हैं—करणं० (करण १३ प्रकार का) जानना चाहिये । महत् आदि (महत्, अहङ्कार और मन, ये ३), ५ ज्ञानेन्द्रियाँ चक्षु आदि, पाँच कर्मेन्द्रियाँ वाक् आदि, ये ही १३ प्रकार करण के हैं । वह (करण) क्या करता है ? इस प्रश्न पर कहते हैं—तदाहरण० इसमें आहरण और धारण कर्मेन्द्रियाँ करती हैं ? यह कहते हैं कार्यञ्च० उस करण का कार्य = कर्तव्य दश प्रकार का है शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नाम का (ज्ञानेन्द्रियों का) और वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग तथा आनन्द नाम का (कर्मेन्द्रियों का) यह दश प्रकार का कार्य है । ज्ञानेन्द्रियों से प्रकाशित कार्य को कर्मेन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं और धारण करती हैं ॥ ३२ ॥

[वाह्य-आभ्यन्तर रूप से करणविभाग]

अन्तःकरणं त्रिविधं, दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥ ३३ ॥

अन्वय—अन्तःकरणं, त्रिविधं, बाह्यं, दशधा, त्रयस्य, विषयाख्यं बाह्यं, साम्प्रतकालं, आभ्यान्तरं करणं, त्रिकालम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—अतःकरण तीन प्रकार का है । वाह्यकरण दश प्रकार का है यह (१० प्रकार का वाह्यकरण) तीन प्रकार के अन्तःकरण का विषय (भोग्य) होता है । वाह्यकरण केवल वर्तमान के विषय हैं किन्तु आभ्यन्तर करण तीनों कालों के ।

भाष्यम्—किञ्च—अन्तःकरणमिति–बुद्ध्यहङ्कारमनांसि । त्रिविधं—महदादिभेदात् । दशधा बाह्यं च । बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च, कर्मेन्द्रियाणि पञ्च, दशविधमेतत् करणं बाह्यम् । त्रयस्यान्तःकरणस्य विषयाख्यं = बुद्ध्यहङ्कार-मनसां भोग्यम् । साम्प्रतकालं । श्रोत्रं–वर्त्तमानमेव शब्दं शृणोति, नाऽतीतं न च भविष्यन्तम् । चक्षुरपि वर्त्तमानं रूपं पश्यति, नाऽतीतं, नाऽनागतम् । त्वग्वर्त्तमानं स्पर्शम्, जिह्वा वर्त्तमानं रसं । नासिका-वर्त्तमानं गन्धं नाऽतीताऽनागतं चेति । एवं कर्मेन्द्रियाणि । वाग्वर्त्तमानं शब्दमुच्चारयति, नाऽतीतं नाऽनागतम् । पाणी वर्त्तमानं घटमाददाते । नातीतमनागतं च । पादौ वर्त्तमानं पन्थानं विहरतो, नाऽतीतं, नाप्यनागतम् । पायूपस्थौ च वर्त्तमानावुत्सर्गानन्दौ कुरुतः,

नाऽतीतौ, नाऽनागतौ। एवं बाह्यं करणं साम्प्रतकालमुक्तम्। त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्। बुद्ध्यहङ्कारमनांसि त्रिकालविषयाणि। बुद्धिर्वर्त्तमानं घटं बुध्यते, अतीतमनागतं चेति। अहङ्कारो वर्त्तमानेऽभिमानं करोत्यतीतेऽनागते च। तथा मनो वर्त्तमाने सङ्कल्पं कुरुतेऽतीतेऽनागते च। एवं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणमिति ॥३३॥

भाष्यानु०—अन्तःकरण–बुद्धि, अहङ्कार और मन। त्रिविधं—महदादि भेद से (तीन प्रकार का) है (अर्थात् महत्=बुद्धि, अहङ्कार और मन ये तीन अन्तःकरण कहलाते हैं)। दशधा बाह्यं च–५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, यह १० प्रकार का बाह्यकरण कहलाता है। त्रयस्य० वह १० प्रकार का बाह्यकरण तीन प्रकार के अन्तःकरण का विषय = भोग्य होता है। भोग्य का अर्थ है व्यापारजनक[1]। साम्प्रत० श्रोत्र वर्तमान शब्द को ही सुनता है न तो भूत और न भविष्यत् शब्द को। चक्षु भी वर्तमान रूप को ही देखता है न अतीत (रूप) को न अनागत (भविष्य के) रूप को। त्वक् वर्तमान स्पर्श को, जिह्वा वर्तमान रस को और नासिका वर्तमान गन्ध को ही ग्रहण करती है न भूत स्पर्शादि को और न भविष्यत् स्पर्शादि को। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियाँ भी—वाक् वर्तमान शब्द का ही उच्चारण करती है न भूत का न भविष्यत् शब्द का। पाणि (हाथ) वर्तमान घट को ही ग्रहण करते हैं न अतींत (घट) को न अनागत की। पैर वर्तमान मार्ग में ही विहरण करते हैं न अतीत न अनागत (मार्ग में)। पायु और उपस्थ भी वर्तमान ही उत्सर्ग और आनन्द को ग्रहण करते हैं न भूत (उत्सर्ग और आनन्द को) न भविष्यत्। इस प्रकार बाह्यकरण साम्प्रतकाल (वर्तमान को ही ग्रहण करने वाला) कहा गया है। त्रिकाल० किन्तु अन्तःकरण (बुद्धि अहङ्कार और मन) त्रिकाल के विषय हैं। बुद्धि, वर्तमान घट को भी जानती है भूत (घट) को भी और भविष्यत् (घट) को भी। अहंकार वर्तमान में भी जानने का अभिमान करता है भूत में भी और भविष्यत् में भी। इसी प्रकार मन वर्तमान में भी

१. मन, अहङ्कार और बुद्धि के व्यापारों में ज्ञानेन्द्रियों के व्यापारों का उपयोग होता है और कर्मेन्द्रियों के व्यापार भी ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार द्वारा अन्तःकरण के उपयोगी हैं, क्योंकि कर्मेन्द्रियकरण से जनित पदार्थ में ज्ञानेन्द्रिय की प्रवृत्ति से ही अन्तःकरण की प्रवृत्ति होती है।

संकल्प करता है अतीत में भी और अनागत में भी। इस प्रकार आभ्यन्तर, करण त्रिकालविषयक होता है ॥३३॥

[बाह्येन्द्रियों के विषय]

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाऽविशेषविषयाणि।
वाग्भवति शब्दविषया, शेषाणि तु पञ्चविषयाणि ॥३४॥

अन्वय—**तेषां, पञ्च, बुद्धीन्द्रियाणि, विशेषाविशेषविषयाणि, वाक्, शब्दविषया, भवति, शेषाणि तु पञ्चविषयाणि।**

अर्थ—उनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ सविशेष और अविशेष विषयों वाली होती हैं, वाक् इन्द्रिय केवल शब्द-विषया होती है और शेष पाँचों विषयों वाली होती हैं।

भाष्यम्—**इदानीमिन्द्रियाणि कानि सविशेषविषयं गृह्णन्ति, कानि निर्विशेषमिति ?। तदुच्यते**—बुद्धीन्द्रियाणि तेषां—**सविशेषं निर्विशेषं च विषयं गृह्णन्ति। सविशेषविषयं-मानुषाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् सुखदुःखमोहविषययुक्तान् बुद्धीन्द्रियाणि प्रकाशयन्ति। देवानां निर्विशेषान् विषयान् प्रकाशयन्ति। तथा कर्मेन्द्रियाणां मध्ये** वाग्भवति शब्दविषया। **देवानां, मानुषाणां च वाग्वदति, श्लोकादीनुच्चारयति, तस्माद्देवानां, मानुषाणां च वागिन्द्रियं तुल्यम्।** शेषाण्यपि **वाग्व्यतिरिक्तानि पाणिपादपायूपस्थसंज्ञितानि** पञ्चविषयाणि। **पञ्च विषयाः शब्दादयो येषां** तानि पञ्चविषयाणि। **शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पाणौ सन्ति। पञ्चशब्दादिलक्षणायां भुवि पादो** बिहरति। **पाय्विन्द्रियं पञ्चलक्षणमुत्सर्गं करोति। तथोपस्थेन्द्रियं पञ्चलक्षणं शुक्रमानन्दयति॥ ३४॥**

भाष्यानु०—अब इन्द्रियों में कौन (इन्द्रियाँ) सविशेष विषयों को ग्रहण करती हैं और कौन सी निर्विशेष विषयों को ? यह कहा जाता है—**बुद्धी०** इनमें ज्ञानेन्द्रियाँ सविशेष विषयों को ग्रहण करती हैं, सविशेष विषय मनुष्यों के होते हैं, (सविशेष अर्थात्) सुख दुःख मोह-विशेष से युक्त शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन विषयों को ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाशित करती है। देवताओं के लिये तो निर्विशेष विषयों को प्रकाशित करती है[1]। कर्मेन्द्रियों में **वाक्०** वाक्

१. चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ रूपादि अपने विषयों को स्थूल और सूक्ष्म रूपमें ग्रहण करती हैं। साधारण मनुष्यों की इन्द्रियाँ केवल स्थल रूपादि को ही ग्रहण

(इन्द्रिय) शब्द-विषया होती है[1]। देवताओं और मनुष्यों की वाक् (इन्द्रिय) बोलती है अर्थात् शब्दों का उच्चारण करती है इसलिये देवताओं और मनुष्यों की वाक् इन्द्रिय समान है (क्योंकि दोनों ही स्थूल शब्द का उच्चारण करती हैं)। शेषाणि (वाक् को छोड़कर) शेष-पाणि, पाद, पायु, उपस्थ नामक इन्द्रियाँ शब्दादि विषयों वाली होती हैं। जैसे-शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध (ये पाँच) पाणि में होते हैं। शब्दादि पाँच लक्षणों वाली भूमि में पैर विहार करते हैं। पाँचों से युक्त को ही पायु उत्सर्ग करता है और उपस्थेन्द्रिय भी पाँच लक्षणों वाले शुक्र को आनन्दित करती हैं ॥ ३४ ॥

[करणों में परस्पर गौण-प्रधान भाव]

साऽन्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात्त्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि ॥ ३५ ॥

अन्वय—**यस्मात्, सान्तःकरणा, बुद्धिः सर्वं, विषयम्, अवगाहते, तस्मात्, त्रिविधं, करणं द्वारि, शेषाणि, द्वाराणि ।**

अर्थ—क्योंकि अन्तःकरण (अहङ्कार और मन) के सहित बुद्धि ही सब विषयों को ग्रहण करती है, इसलिए तीन प्रकार के (मन, बुद्धि, अहङ्कार) करण द्वारि = प्रधान हैं और शेष (दस) द्वार = अप्रधान हैं।

भाष्यम्—सान्तःकरणा बुद्धिः। अहङ्कारमनःसहितेत्यर्थः। यस्मात् सर्वं विषयमवगाहते = गृह्णाति। त्रिष्वपि कालेषु शब्दादीन् गृह्णाति तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि, द्वाराणि शेषाणि। 'करणानी'ति वाक्यशेषः ॥ ३५ ॥

भाष्यानु—सान्तः०। अन्तःकरण अर्थात् अहङ्कार और मन के सहित बुद्धि, यस्मा० क्योंकि सम्पूर्ण विषयों को ग्रहण करती है, तीनों ही कालों में शब्दादि को ग्रहण करती है। तस्मात्० इसलिये तीन प्रकार का यह करण द्वारि=

करती हैं किन्तु देवताओं, योगियों आदि की इन्द्रियाँ स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के रूपादि को ग्रहण करती हैं। यही स्थूल और सूक्ष्म, विशेष और अविशेष शब्दों से कहे गये हैं।

१. अर्थात् वाक् इन्द्रिय शब्द का जनक होने से स्थूल शब्द ही उसका विषय है। सूक्ष्म शब्द (तन्मात्र) तो अहङ्कार से उत्पन्न होता है और वाग् इन्द्रिय भी अहङ्कार का ही कार्य है अतः वह सूक्ष्म शब्द को (अर्थात् शब्दतन्मात्र को) नहीं ग्रहण करता।

प्रधान है। (क्योंकि) साक्षात् या परम्परा से बाह्येन्द्रियों द्वारा ही अन्तःकरण विषयों में अपना-अपना व्यापार करते हैं ॥ ३५ ॥

[बुद्धि का प्राधान्य]

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः।
कृत्स्नं पुरुषस्याऽर्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥

अन्वय—**एते, गुणविशेषाः, प्रदीपकल्पाः, परस्परविलक्षणाः, कृत्स्नं अर्थं, पुरुषस्य, प्रकाश्य, बुद्धौ, प्रयच्छन्ति।**

अर्थ—ये (१३ करण) गुण विशेष हैं, दीपक की तरह (विषयों को) प्रकाशिन करते हैं, एक दूसरे से विलक्षण हैं। ये अपने-अपने सम्पूर्ण विषयों को पुरुष के लिए प्रकाशित करके बुद्धि को सौंप देते हैं।

भाष्यम्—**किञ्चान्यत्-यानि करणान्युक्तानि-एते** गुणविशेषाः। **किं विशिष्टाः!** प्रदीपकल्पाः = **प्रदीपवद्विषयप्रकाशकाः।** परस्परविलक्षणाः = **असदृशाः, भिन्नविषया इत्यर्थः।** गुणविशेषेति। गुणविशेषाः = **गुणेभ्यो जाताः।** कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं **बुद्धीन्द्रियाणि, कर्मेन्द्रियाण्यहङ्कारो मनश्चैतानि स्वं स्वमर्थं** पुरुषस्य **प्रकाश्य,** बुद्धौ प्रयच्छन्ति = **बुद्धिस्थं कुर्वन्तीत्यर्थः। यतो** बुद्धिस्थं **सर्वं विषयसुखादिकं पुरुष उपलभते ॥ ३६ ॥**

भाष्यानु०—और ये जो करण कहे गये हैं। एते० वे गुणविशेष ही हैं। (प्रश्न–) इनमें क्या विशेषता है ? (उत्तर—प्रदीपकल्पाः दीपक की तरह विषयों को प्रकाशित करते हैं। परस्पर० परस्पर एक दूसरे के सदृश नहीं हैं अर्थात् इनके विषय भिन्न-भिन्न होते हैं। गुणविशेषाः का अर्थ है गुणों से उत्पन्न। कृत्स्नं० ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, अहङ्कार तथा मन, ये अपने-अपने अर्थ को पुरुष के लिये, प्रकाश्य० प्रकाशित करके बुद्धि में अर्पण करते हैं और बुद्धि में स्थित सभी विषयों—सुखादि को पुरुष प्राप्त करता है[1] ॥ ३६ ॥

---

१. जैसे बत्ती, तेल और अग्नि परस्पर विरोधशील पदार्थ होने पर भी मिलकर दीपक रूप से अन्धकार को दूर करके अन्य पदार्थों को प्रकाशित करते हैं इसी प्रकार ये १३ करण भी यद्यपि परस्पर विरुद्ध विषयों का ग्रहण करने वाले हैं किन्तु मिलकर सम्पूर्ण विषयों को ग्रहण करके बुद्धि को समर्पण करते हैं और बुद्धिस्थ उन विषयों का पुरुष भोग करता है। इसलिए बुद्धि ही इन सब करणों में प्रधान है।

[बुद्धि की प्रधानता में हेतु]

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधान-पुरुषाऽन्तरं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

अन्वय—**यस्मात्, बुद्धिः, पुरुषस्य सर्वं प्रत्युपभोगं साधयति, पुनः, सा, एव, च, सूक्ष्मं, प्रधानपुरुषान्तरं, विशिनष्टि।**

अर्थ—क्योंकि बुद्ध ही पुरुष के लिए सब उपभोगों को सम्पादित करती हैं और फिर वही प्रधान और पूरुष के सूक्ष्म अन्तर को व्यक्त करती है।

भाष्यम्—**इदञ्चान्यत्-सर्वेन्द्रियगतं त्रिष्वपि कालेषु, सर्वं प्रत्युपभोगम्-उपभोगं प्रति, देवमनुष्यतिर्यक्षु बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियद्वारेण सान्तःकरणा बुद्धिः** साधयति = **सम्पादयति** यस्मात् **तस्मात्**—सैव च विशिनष्टि = **प्रधानपुरुषयोर्विषयविभागं करोति,** प्रधानपुरुषान्तरं = **नानात्वमित्यर्थः।** सूक्ष्ममिति। **अनधिकृततपश्चरणैरप्राप्यम्। 'इयं प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था, इयं बुद्धिः, अयमहङ्कारः, एतानि पञ्च तन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानि, अयमन्यः पुरुषः एभ्यो व्यतिरिक्त' इत्येवं बोधयति बुद्धिः, यस्याऽवापादपवर्गो भवति॥ ३७ ॥**

भाष्यानु०—और यह भी है कि सर्वं प्रत्युप० सब इन्द्रियों द्वारा तीनों कालों में होनेवाले उपभोगों को देव मनुष्य तिर्यक् आदि सभी की ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों द्वारा अन्तःकरण सहित बुद्धि ही सम्पादित करती है इसलिए सैव च० वही प्रकृति और पुरुष के विषय का विभाग करता है। प्रकृति पुरुष का अन्तर अर्थात् इनका नानात्व। सूक्ष्म अभिप्राय है अनधिकृत तपश्चर्यावालों से अप्राप्य। सत्त्व, रजस् और तमोगुण की साम्यावस्था ही यह प्रकृति है। यह बुद्धि है, यह अहङ्कार है, ये पाँच तन्मात्राएँ हैं, ये ११ इन्द्रियाँ हैं, ये ५ महाभूत हैं और यह इनसे भिन्न पुरुष है, ऐसा विवेक बुद्धि ही करती है। जिस विवेक की प्राप्ति से अपवर्ग = मोक्ष होता है ॥३७॥

[विशेषों के तीन प्रकार]

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च, मूढाश्च ॥ ३८ ॥

अन्वय—**तन्मात्राणि, अविशेषाः, तेभ्यः, पञ्चभ्यः, पञ्चभूतानि, एते, विशेषाः, स्मृताः, शान्ताः, घोराश्च, मूढाश्च।**

अर्थ—तन्मात्राएँ ही अविशेष हैं, इनसे उत्पन्न जो पाँच महाभूत हैं ये विशेष कहे गये है जो शान्त = सुखजनक, घोर = दुःखजनक और मूढ = मोहजनक होते हैं।

भाष्यम्—पूर्वमुक्तं-विशेषाऽविशेषविषयाणि। तत् के विषयास्तान् दर्शयति। यानि पञ्च तन्मात्राण्यहङ्कारादुत्पद्यन्ते ते—शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रम्—एतानि—अविशेषा उच्यन्ते। देवानामेते सुखलक्षणा विषया दुःखमोहरहिताः। तेभ्यः पञ्चभ्यः = तन्मात्रेभ्यः, पञ्च महाभूतानि = पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशसंज्ञानि यान्युत्पद्यन्ते—एते स्मृता विशेषाः। गन्धतन्मात्रात् पृथिवी। रसतन्मात्रादापः। रूपतन्मात्रात्तेजः। स्पर्शतन्मात्राद्वायुः। शब्दतन्मात्रादाकाशम्। इत्येवमुत्पन्नान्येतानि महाभूतानि, एते विशेषाः = मानुषाणां विषयाः, शान्ताः = सुखलक्षणाः, घोराः = दुःखलक्षणाः, मूढाः = मोहजनकाः। यथ—आकाशं कस्यचिदनवकाशादन्तर्गृहादेर्निर्गतस्य सुखात्मकं शान्तं भवति। तदेव शीतोष्णवातवर्षाभिभूतस्य दुःखात्मकं घोरं भवति। तदेव पन्थानं गच्छतो वनमार्गाद् भ्रष्टस्य दिङ्मोहान्मूढं भवति। एवं वायुर्धर्मार्त्तस्य शान्तो भवति, शीतार्त्तस्य घोरो, धूलिशर्कराविमिश्रोगतिमान् मूढ इति। एवं तेजःप्रभृतिषु द्रष्टव्यम्॥३८॥

भाष्यानु०—पहिले कहा था—ये विशेष और अविशेष-विषय वाले होते हैं। इसलिये वे विषय कौन हैं? उन्हें दिखाते हैं—तन्मात्रा० जो पाँच तन्मात्राएँ अहंकार से उत्पन्न होती है वे शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र ये अविशेष[1] कहे जाते हैं। ये देवताओं के विषय सुखप्रद और दुःख तथा मोह से रहित होते हैं[2]। भूतानि० इन (उपर्युक्त) पाँच तन्मात्राओं से जो पाँच महाभूत पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश उत्पन्न होते हैं वे विशेष कहलाते हैं। गन्धतन्मात्र से पृथ्वी, रसन्मात्र से जल, रूपतन्मात्र से तेज, स्पर्शतन्मात्र से वायु, शब्दतन्मात्रसे आकाश, इस प्रकार ये पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं। ये मनुष्यों के विषय हैं जो **शान्ताः**

---

१. शान्त घोर-मूढत्वरूप विशेष = उपभोगयोग्यत्व इनमें नहीं रहता है इस लिये ये अविशेष कहलाते हैं।

२. तन्मात्र में मात्र शब्द सूक्ष्मत्व का सूचक है। सूक्ष्म होने से ये देवताओं के ही विषय हो सकते हैं। क्योंकि देवता सत्त्वप्रधान होते हैं और सत्त्व सुखरूप ही होता है।

शान्त = सुखप्रद, घोर = दु:खप्रद और मूढ = मोहजनक हैं। जैसे आकाश जो कि अनवकाश = खाली जगह का नाम है वह, घर के भीतर से निकलते हुए व्यक्ति के लिए शान्त = सुखप्रद है, वही शीत उष्ण वायु और वर्षा से प्रताड़ित व्यक्ति के लिये घोर = दु:खजनक होता है, तथा वही राहगीर के लिए घने जंगलों में भटक जानेपर मूढ = मोहजनक हो जाता है। इसी प्रकार वायु धूप से सताये व्यक्ति के लिये शान्त, शीतार्त के लिये घोर तथा धूल आदि उठता हुआ (वात्या = बवंडर रूप) मूढ (मोहजनक) होता है। इसी प्रकार तेज आदि भी समझने चाहिये ॥३८॥

सूक्ष्मा मातापितृजाः, सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः।
सूक्ष्मास्तेषां नियताः, मातापितृजा निवर्त्तन्ते ॥३९॥

अन्वय—विशेषाः, सूक्ष्माः, मातापितृजाः, प्रभूतैः सह, त्रिधा, स्युः तेषां सूक्ष्माः, नियताः, मातापितृजाः निवर्तन्ते।

अर्थ—ये विशेष—सूक्ष्म, माता पिता से जन्य तथा महाभूतों के (विशेष-तत्त्वों के) साथ तीन प्रकार के होते हैं। इनमें सूक्ष्म तो निश्चित (नित्य रहने वाले) हैं और माता पिता से जन्य (शरीर के साथ) निवृत्त हो जाते हैं।

भाष्यम्—अथाऽन्ये विशेषाः = सूक्ष्माः = तन्मात्राणि, यत्संगृहीतं तन्मात्रकं सूक्ष्मशरीरं महदादि लिङ्गं सदा तिष्ठति, संसरति च, ते—सूक्ष्माः। तथा मातापितृजाः = स्थूलशरीरोपचायकाः, ऋतुकाले मातापितृ योगे शोणितशुक्र-मिश्रीभावेनोदरान्तःसूक्ष्मशरीरस्योपचयं कुर्वन्ति। तत् सूक्ष्मशरीरं पुनर्मातुरशित-पीतनानाविधरसेन नाभिनिबन्धेनाऽऽप्यायते, तथाप्यारब्धं शरीरं सूक्ष्मैर्माता-पितृजैश्च सह महाभूतैस्त्रिधा विशेषैः, पृष्ठोदरजङ्घाकट्युरःशिरःप्रभृति षाट्कौशिकं, पाञ्चभौतिकं रुधिरमांसस्नायुशुक्रास्थिमज्जासंभृतम्, आकाशो-ऽवकाशदानाद्, वायुवर्द्धनात्, तेजः पाकाद्, आपः संग्रहात्, पृथिवी धारणात्, समस्तावयवोपेतं मातुरुदराद्बहिर्भवति। एवमेते त्रिधा विशेषाः स्युः। अत्राह—के नित्याः, के वा अनित्याः?। सूक्ष्मास्तेषां नियताः। सूक्ष्माः = तन्मात्र-संज्ञकास्तेषां मध्ये नियताः = नित्याः, तैरारब्धशरीरमधर्मवशात् पशुमृगपक्षि-सरीसृपस्थावरजातिषु संसरति, धर्मवशादिन्द्रादिलोकेषु। एवमेतन्नियतं सूक्ष्मशरीरं संसरति, न यावज्ज्ञानमुत्पद्यते। उत्पन्ने ज्ञाने विद्वान् शरीरं त्यक्त्वा, मोक्षं गच्छति तस्मादेते विशेषाः सूक्ष्मा नित्या इति। मातापितृजा निवर्तन्ते। तत् सूक्ष्मशरीरं परित्यज्येहैव प्राणत्यागवेलायां मातापितृजा निवर्त्तन्ते। मरणकाल

मातापितृजं शरीरमिहैव निवृत्य भूम्यादिषु प्रलीयते, यथातत्त्वम् ॥ ३९ ॥

भाष्यानु०—और ये विशेष (तीन प्रकार के होते हैं—) १. सूक्ष्माः तन्मात्राएँ जिनसे संगृहीत तन्मात्रक सूक्ष्म शरीर है जो महदादि के लय (अर्थात् मोक्ष) पर्यन्त सदा रहता है तथा जन्मता-मरता भी रहता है, वे सूक्ष्म हैं। २–मातापितृजाः, स्थूलशरीर के उपचायक अर्थात् ऋतुकाल में मातापिता का संयोग होने पर शोणित-शुक्र के मिश्रण से (माता के) उदर के अन्दर सूक्ष्मशरीर को बढ़ाते हैं। वह सूक्ष्मशरीर, माता के खाये-पीये नाना प्रकार के रसों से, जो कि उसके नाभिनालद्वारा गर्भ में प्रविष्ट होते हैं, तृप्त होता है। (यद्यपि सूक्ष्म और मातापितृज, इन दोनों का परिणाम ही स्थूलशरीर है तो भी सूक्ष्म और मातापितृज के साथ ३—तीसरे विशेष महाभूतों से भी यह शरीर आरम्भ किया जाता है। जो पृष्ठ, उदर, जङ्घा, कटि, उरस् और शिर इनके षाट्कौशिक[1] रुधिर-मांस-स्नायु-शुक्र-अस्थि-मज्जा से बढ़ा हुआ पाँच भौतिक (=पंचमहाभूतों से बना हुआ) अवकाश प्रदान करने से आकाश, बढ़ने से वायु, पाक (अवस्था का परिणाम) से तेज, सङ्ग्रह (पिण्डीभाव) से जल, धारण से पृथ्वी इस प्रकार समस्त अवयवों से युक्त होकर माता के गर्भ से बाहर आता है। इस प्रकार एते त्रिधा विशेषाः स्युः ये तीन प्रकार के विशेष होते हैं। इसमें कहते हैं (प्रश्न) कौन नित्य हैं और कौन अनित्य ? (उत्तर–) सूक्ष्मा० उन तीन प्रकारों में सूक्ष्म=तन्मात्र संज्ञक विशेष नियत अर्थात् नित्य होते हैं। उनसे आरम्भ हुआ शरीर अधर्मवशात् पशु, मृग, सरीसृप, पक्षी, स्थावर योनियों में जन्म-मरण करता है और पुण्यवशात् इन्द्रादि (देव) लोकों में। इस प्रकार यह नित्य सूक्ष्म शरीर तब तक संसार में चक्कर काटता है जब तक ज्ञान न उत्पन्न हो जाय, ज्ञान उत्पन्न होने पर विद्वान् व्यक्ति शरीर छोड़कर मोक्ष को प्राप्त होता है। इसलिये ये सूक्ष्म विशेष नित्य हैं। माता० उस सूक्ष्म शरीर को छोड़कर प्राणत्याग के समय ही माता पिता से जन्य विशेष निवृत्त हो जाते हैं। मृत्युकाल में माता-पिता से जन्य (स्थूल) शरीर यहीं निवृत्त होकर पृथ्वी आदि तत्त्वों में क्रम से लीन हो जाता है। (अर्थात् शरीर में जिस तत्त्व का जो अंश होता है वह उसमें समा जाता है) ॥३९॥

---

१. छः कोशों—अङ्गों वाला, जैसा कि सुश्रुत ने कहा है "तच्च षडङ्गं शाखाश्चतस्रो मध्यं पञ्चमं षष्ठं शिर इति"।

[लिङ्ग (सूक्ष्म)-शरीरनिरूपण]

पूर्वोत्पन्नमसक्तं, नियतं, महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥४०॥

अन्वय—पूर्वोत्पन्नम्, असक्तं, नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्, निरुपभोगं, लिङ्गम्, भावैः अधिवासितं, संसरति ।

अर्थ—(यह सूक्ष्म शरीर) सबसे पूर्व उत्पन्न हुआ, किसी भी योनि में आसक्ति न रखनेवाला, नियत (मोक्ष तक रहनेवाला), महत् से तन्मात्र पर्यन्त (स्वरूपवाला), भोग रहित, लययुक्त तथा (धर्माधर्मादि) भावों से उपरञ्जित होकर संसरण करता है ।

भाष्यम्—सूक्ष्मं च कथं संसरति ? तदाह—यदा लोका अनुत्पन्नाः प्रधानादिसर्गे तदा सूक्ष्मशरीरमुत्पन्नमिति । किञ्चाऽन्यत् असक्तं = न संयुक्तं,-तिर्यग्योनिदेवमानुषस्थानेषु, सूक्ष्मत्वात्, कुत्रचिदसक्तं, पर्वतादिषु अप्रतिहतप्रसरं संसरति = गच्छति । नियतम् । यावन्न ज्ञानमुत्पद्यते तावत् संसरति । तच्च-महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम् । महानादौ यस्य तत् महदादि = बुद्धि-रहङ्कारो, मन इति । पञ्च तन्मात्राणि (= सूक्ष्माः) । सूक्ष्मपर्यन्तं = तन्मात्रपर्यन्तं संसरति = शूलग्रहपिपीलिकावत् त्रीनपि लोकान् । निरुपभोगं = भोगरहितं । तत् सूक्ष्मशरीरं माता-पितृजेन बाह्येनोपचयेन क्रियाधर्मग्रहणाद्भोगेषु समर्थं भवतीत्यर्थः । भावैरधिवासितम् । पुरस्ताद्भावान् = धर्मादीन् वक्ष्यामः-(४३ का०) । तैरधिवासितम् = उपरञ्जितम् । लिंगमिति । प्रलयकाले महदादि सूक्ष्मपर्यन्तं करणोपेतं प्रधाने लीयते, असंसरणयुक्तं सत् आसर्गकालमत्र वर्त्तते प्रकृतिमोह-बन्धनबद्धं सत् संसरणादिक्रियास्वसमर्थमिति । पुनः सर्गकाले संसरति तस्माल्लिङ्गं—सूक्ष्मम् ॥ ४० ॥

भाष्यानु०—सूक्ष्म (शरीर) का संसरण कैसे होता है ? इस पर कहते हैं—पूर्वोत्पन्नं =जब लोक उत्पन्न नहीं हुए थे तभी प्रारम्भ में प्रधान (प्रकृति) ने सूक्ष्म शरीर[1] उत्पन्न कर दिया और असक्तं = देव, मनुष्य, पशुपक्षी आदि

---

१. मन, बुद्धि, अहंकार, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ और ५ तन्मात्रायें ये १८ मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं । सांख्यसिद्धान्त के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में ही प्रति पुरुष एक-एक सूक्ष्म शरीर को प्रकृति उत्पन्न कर देती है । जैसा कि पहले बता चुके हैं प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, उससे १६ का समूह (५ तन्मात्र व ११ इन्द्रियाँ) उत्पन्न होता है ।

योनियों में आसक्त नहीं होता (अर्थात् यह सूक्ष्म शरीर किसी एकही देवादि योनि में संयुक्त होकर नहीं रह जाता, अथवा–) सूक्ष्म होने के कारण कहीं भी उसका प्रसार रोका नहीं जा सकता अर्थात् पत्थर आदि तक में भी उसका प्रवेश है। नियतं = जबतक ज्ञान न हो जाय (अर्थात् मोक्षपर्यन्त) यह घूमता रहता है। महदा० महत् = बुद्धि से लेकर सूक्ष्म = तन्मात्रपर्यन्त। महत् है आदि में जिसके वह है महदादि, अर्थात्– बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच तन्मात्रायें, ये सूक्ष्मपर्यन्तं = तन्मात्रापर्यन्तं **संसरति** शूलग्रहपिपीलिकावत् तीनों लोकों में विचरण करता है।[1] **निरुपभोगम्** = भोगरहित वह वह सूक्ष्मशरीर माता-पिता से जन्य बाह्य उपचय द्वारा क्रियाधर्म का ग्रहण करने से भोगों में समर्थ होता है (क्योंकि स्थूल देह के बिना सूक्ष्मशरीर भोग में समर्थ नहीं। अब प्रश्न यह होता है कि सूक्ष्मशरीर में धर्माधर्म तो संभव नहीं, इसलिए तन्निमित्तक सूक्ष्मशरीर का संसरण कैसे होता है? इसके उत्तर में कहते हैं—) **भावैरधिवासितम्**—धर्मादिभावों को आगे कहेंगे। उनसे यह अधिवासित अर्थात् उपरञ्जित[2] होता है। **लिङ्गं** = (लययुक्त है।) प्रलयकाल में महत् से सूक्ष्म (तन्मात्र) पर्यन्य और करणों (ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों) से युक्त यह प्रधान में लीन हो जाता है। तब असंसरणयुक्त होकर पुनः सृष्ट्युत्पत्तिपर्यन्त यहाँ (प्रधान में) लीन रहता है। (प्रश्न–प्रलय काल[2] में सूक्ष्मशरीर का संसरण क्यों नहीं होता? उत्तर—प्रलयकाल में प्रकृति के मोहरूप बन्धन में बँधा हुआ होने से संसरणादि क्रियाओं में असमर्थ रहता है। पुनः सृष्टिकाल में संसरण करने लगता है। इसलिए यह सूक्ष्मशरीर लिङ्ग = लययुक्त है (अर्थात् पूर्व-पूर्व स्थूल शरीर को छोड़ता हुआ नये नये स्थूल शरीर को ग्रहण करता रहता है) ॥ ४० ॥

---

१. यहाँ यह ज्ञातव्य है कि गौड़पादाचार्य ने ८ तत्त्वों को ही सूक्ष्मशरीर माना है। महत्, अहङ्कार, मन और ५ तन्मात्राएँ। किन्तु अन्य आचार्य इनके साथ दस इन्द्रियों के भी सूक्ष्मांशको मानकर १८ तत्त्वों को सूक्ष्मशरीर मानते हैं। 'शूलग्रहपिपीलिकावत्' यह पाठ स्पष्ट नहीं प्रतीत होता, यहाँ 'शूलागृहपिपीलिको (वेश्या के घर की चिउँटी) यह पाठ उचित प्रतीत होता है या फिर खंभे पर चढ़ते-उतरते चीटे की तरह, यह अर्थ होगा।

२. तात्पर्य यह है कि जैसे सुगन्धित पुष्प यदि किसी वस्त्र में रखे जायँ तो वह वस्त्र भी सुगन्धियुक्त हो जाता है, उसी प्रकार बुद्धि में रहनेवाले धर्म

[सूक्ष्म शरीर की स्थूल की अपेक्षा]

चित्रं यथाऽश्रयमृते, स्थाण्वादिभ्यो विना यथा च्छाया।
तद्वद्विनाऽविशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥ ४१ ॥

अन्वय—चित्रम्, यथा, आश्रयम्, ऋते (न तिष्ठति) यथा, छाया, स्थाण्वादिभ्यः, विना (न तिष्ठति), तद्वद्, अविशेषैः, विना, निराश्रयं, लिङ्गं, न, तिष्ठति।

अर्थ—चित्र जैसे आधार (दीवाल आदि) के विना नहीं रहता, जैसे छाया खूंटा आदि पदार्थों के विना नहीं रहती, वैसे ही यह सूक्ष्म शरीर भी विना अविशेषों (विशेष = तन्मात्र, अविशेष = तन्मात्रों से भिन्न अर्थात् भूतमय स्थूल देहों) के नहीं रह सकता।

भाष्यम्—'किंप्रयोजनेन त्रयोदशविधं करणं संसरतीत्येवं चोदिते सति—आह—चित्रं यथा कुड्याद्याश्रयमृते न तिष्ठति, स्थाण्वादिभ्यः = कीलकादिभ्यो विना यथाछाया न तिष्ठति = तैर्विना न भवति। आदिग्रहणाद्यथा—शैत्यं विना नाऽऽपो भवन्ति, शैत्यं वा वाऽद्भिर्विना। अग्निरुष्णं विना, वायुः स्पर्शं विना, आकाशमवकाशं विना, पृथ्वी गन्धं विना। तद्वत् = एतेन दृष्टान्तेन न्यायेन, विनाऽविशेषैः = अविशेषैस्तन्मात्रैर्विना न तिष्ठति। अथ विशेषभूतान्युच्यन्ते। शरीरं पञ्चभूतमयम्, विशेषिणा शरीरेण विना क्व, लिङ्गस्थानं चेति क्व, (यदैव) एकदेहमुज्झति तदैवाऽन्यमाश्रयति। निराश्रयम् = आश्रयरहितम्। लिङ्गं = त्रयोदशविधं करणमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

भाष्यानु०—क्या किसी प्रयोजन से यह तेरह प्रकार का करणसमूह संसरण करता है? ऐसी शंका[1] पर कहते हैं। **चित्र०** जैसे चित्र दीवाल आदि का आश्रय लिये विना नहीं रहता और **स्थाणवादि०** खूँटे आदि के विना जैसे उसकी छाया नहीं होती। आदि कहने से जैसे शीतलता के विना जल नहीं रहता और जल के विना शीतलता नहीं रहती, अग्नि उष्णता के विना नहीं रहता, वायु

अधर्म आदि ७ भावों के संस्कार सूक्ष्मशरीर में भी रह जाते हैं, क्योंकि सूक्ष्मशरीर में बुद्धि सत्त्व भी एक है।

१. तात्पर्य यह है कि तेरह करण ही तो सूक्ष्मशरीर है, फिर अहङ्कार इन्द्रिय और तन्मात्राओं सहित बुद्धि ही स्थूलशरीर का भोग करती है, ऐसा क्यों नहीं मान लेते? व्यर्थ ही सूक्ष्मशरीर की कल्पना का गौरव क्यों करते हैं?

स्पर्श के विना नहीं रहता, आकाश अवकाश के विना नहीं रहता तद्वत्० उसी प्रकार अविशेषों = तन्मात्रों अर्थात् सूक्ष्मशरीर के विना बुद्ध्यादि गुण भी, न तिष्ठति = नहीं रहता। अब विशेष कहने से भूत (आकाशादि) लिये जाते हैं, शरीर पञ्चभूतमय है। इस पाँचभौतिक शरीर के विना लिङ्ग = सूक्ष्मशरीर के लिए स्थान ही कहाँ है। जब एक देह को छोड़ता है तब वही दूसरे देह को धारण करता है। निराश्रयं = अर्थात् आश्रयरहित, लिङ्गम् = १३ प्रकार का करण (अर्थात् सूक्ष्मशरीर) भी नहीं रह सकता है[1] ॥ ४१ ॥

[सूक्ष्म का संसरण और नानारूपता]

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्त-नैमित्तिकप्रसङ्गेन।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥ ४२ ॥

अन्वय—इदं, लिङ्गम्, पुरुषार्थहेतुकम्, निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन, प्रकृतेर्विभुत्वयोगात्, नटवद्, व्यवतिष्ठते।

अर्थ—यह सूक्ष्म शरीर पुरुषार्थ (भोगापवर्गरूप) के लिये ही निमित्त (धर्मादि) तथा नैमित्तिक (ऊर्ध्वगमनादि) प्रसङ्गों से प्रकृति की व्यापकता से नटकी भाँति व्यवस्थित होता है।

भाष्यम्—**किमर्थम्? तदुच्यते—पुरुषार्थः कर्त्तव्य' इति प्रधान प्रवर्त्तते। स च द्विविधः, शब्दाद्युपलब्धिलक्षणो, गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणश्च। शब्दाद्युपलब्धिर्ब्रह्मादिषु लोकेषु गन्धादिभोगाऽवाप्तिः। गुणपुरुषान्तरोपलब्धिर्मोक्ष इति।** तस्मादुक्तं—पुरुषार्थहेतुकमिदं सूक्ष्मशरीरं प्रवर्त्तते इति। निमित्त-नैमित्तिकप्रसङ्गेन। निमित्तं = **धर्मादि, नैमित्तिकम्** = **ऊर्ध्वगमनादि पुरस्तादेव वक्ष्यामः** प्रसङ्गेन **प्रसक्त्या।** प्रकृतेः = **प्रधानस्य,** विभुत्वयोगात्। **यथा—राजा स्वराष्ट्रे** विभुत्वाद्यद्यदिच्छति **तत्तत्करोतीति, तथा प्रकृतेः सर्वत्र** विभुत्वयोगान्निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन व्यवतिष्ठते = **पृथक् पृथग्देहधारणे लिङ्गस्य व्यवस्थां करोति।** लिङ्गं = **सूक्ष्मैः = परमाणु-**

---

१. जन्म से लेकर मरणपर्यन्त तो ये बुद्ध्यादि इस पाँचभौतिक शरीर में रहेंगे मरणोपरान्त दूसरा शरीर धारण करने पर उसमें रहेंगे। किन्तु एक देह त्यागकर दूसरे को धारण करने के बीच में जो काल है उसमें ये कहाँ रहेंगे? इसलिये इनके आश्रय के लिए सूक्ष्म शरीर को मानना आवश्यक है, इसी को इस कारिका में स्पष्ट किया है जैसे चित्र, छाया आदि के लिए एक आश्रय मानना आवश्यक है वैसे ही बुद्ध्यादि के लिए भी सूक्ष्मशरीर को आश्रय मानना आवश्यक है।

भिस्तन्मात्रैरुपचितं शरीरं, त्रयोदशविधकरणोपेतं मानुषदेवतिर्यग्योनिषु व्यवतिष्ठते । कथम् ? नटवत् । यथा नटः पटान्तरेण प्रविश्य देवो भूत्वा निर्गच्छति, पुनर्मानुषः, पुनर्विदूषकः । एवं लिङ्गं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेनोदरान्तः प्रविश्य–हस्ती, स्त्री, पुमान् भवति ॥ ४२ ॥

भाष्यानु०—किस [illegible] अर्थात् करण समूह सूक्ष्म शरीर के साथ किस लिए संसरण करता है ?) इस पर कहते हैं—'पुरुषार्थ (भोगापवर्गरूप) करना चाहिए' इसलिए प्रधान (प्रकृति) प्रवृत्त होता है । वह (पुरुषार्थ) दो प्रकार का है—शब्दादि की उपलब्धिरूप और गुणपुरुषान्तरोपलब्धिरूप । शब्दाद्युपलब्धि का अर्थ है ब्रह्मलोक आदि में नानाप्रकार के गन्धादि विषयों की प्राप्ति, और गुणपुरुषान्तरोपलब्धि का अर्थ है मोक्ष[1] । इसलिए कहा है—पुरुषार्थ० (पुरुषार्थ के लिए ही यह सूक्ष्मशरीर प्रवृत्त होता है ।) निमित्त० निमित्त = धर्मादि, नैमित्तिक = ऊर्ध्वगमन आदि (जिन्हें) आगे (४४ वीं कारिका में) कहेंगे । प्रसङ्ग से अर्थात् प्रसक्ति (सहयोग = सहचार भाव) से[2] प्रकृतेः० = प्रधान के विभु = व्यापक होने से । जैसे राजा अपने देश में समर्थ होने के कारण जो जो चाहता है वह वह कर लेता है उसी प्रकार प्रकृति भी सर्वत्र व्यापक होने से निमित्त-नैमित्तिक प्रसङ्ग से **व्यवतिष्ठते** पृथक्-पृथक् देह धारण में सूक्ष्म शरीर की व्यवस्था करती है । लिङ्गं = सूक्ष्म परमाणुओं से तन्मात्राओं से उपचित १३ करणों वाले सूक्ष्म शरीर की मानुष, देव तथा तिर्यक् योनियों व्यवस्था करता है । (अर्थात् लिङ्ग शरीर भिन्न योनियों में देह धारण करता है) कैसे ? नटवत् । जैसे नट परदे में वेश बदल कर आता है, कभी देवता बनकर आता है तो पुनः मनुष्य बनकर आ जाता है फिर विदूषक या अन्य बनकर । इसी प्रकार लिङ्ग शरीर निमित्त-नैमित्तिक प्रसङ्ग से अन्दर जाकर हाथी, स्त्री, पुरुष आदि रूपों को धारण करता है ॥ ४२ ॥

---

१. गुणपुरुष अर्थात् त्रिगुणात्मक जो देह, इससे भिन्न पुरुष का साक्षात्कार अर्थात् मोक्ष ।

२. अर्थात् यदि धर्मादि निमित्त से ऊर्ध्वगमनादि नैमित्तिक से, तत्तस्थूल शरीर के साथ अयोग होता तो यह सूक्ष्म शरीर नहीं रह सकता अपितु लीन हो जाता है ।

[भावों के विभाग]

सांसिद्धिकाश्च भावाः, प्राकृतिका, वैकृतिकाश्च धर्माद्याः।
दृष्टाः करणाऽऽश्रयिणः, कार्याऽऽश्रयिणश्च कललाद्याः ॥४३॥

अन्वय—धर्माद्याः, भावाः, सांसिद्धिकाः, वैकृतिकाश्च, करणाश्रयिणः, दृष्टाः, च, कललाद्याः, कार्याश्रयिणः, दृष्टाः।

अर्थ—धर्मादिभाव साँसिद्धिक, प्राकृतिक और वैकृतिक (तीन प्रकारों के) हैं। ये कारण (बुद्धि) में रहने वाले हैं और कललादि (मातापितृजभाव) कार्य में रहने वाले देखे जाते हैं।

भाष्यम्—'भावैरधिवासितं लिङ्गं संसरती' त्युक्तं (४० का०) ततः **के भावा इत्याह—भावास्त्रिविधाश्चिन्त्यन्ते,**—सांसिद्धिकाः, प्राकृताः, वैकृताश्च तत्र सांसिद्धिका **यथा—भगवतः कपिलास्याऽऽदिसर्गे उत्पद्यमानस्य चत्वारो भावाः सहोत्पन्नाः, धर्मो, ज्ञानं, वैराग्यमैश्वर्यमिति** प्राकृताः **कथ्यन्ते,—ब्रह्मणश्चत्वारः पुत्राः सनक-सनन्द-सनातन-सनत्कुमारा बभूवुः। तेषामुत्पन्नकार्यकारणानां शरीरिणां षोडशवर्षाणामेते भावाश्चत्वारः समुत्पन्नाः, तस्मादेते प्राकृताः। तथा वैकृता यथा-आचार्यमूर्तिं निमित्तं कृत्वाऽस्मदादीनां ज्ञानमुत्पद्यते, ज्ञानाद्वैराग्यं, वैराग्याद्धर्मः, धर्मादैश्वर्यमिति। आचार्यमूर्त्तिरपि विकृतिरिति। तस्माद्वैकृता एते भावा उच्यन्ते, यैरधिवासितं लिङ्गं संसरति। एते चत्वारो भावाः सात्त्विकाः। तामसा विपरीताः** सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् (२३ का०) **इत्यत्र व्याख्याताः। एवमष्टौ। धर्मो, ज्ञानं, वैराग्यमैश्वर्यमधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यमित्यष्टौ भावाः। कुत्रवर्त्तन्ते?।** दृष्टाः करणाश्रयिणः। **बुद्धिः = करणं, तदाश्रयिणः। एतदुक्तम्—अध्यवसायो बुद्धिः, धर्मो ज्ञानमिति। कार्थ = देहस्तदाश्रयाः कललाद्या ये 'मातृजा' इत्युक्ताः। शुक्रशोणितसंयोगे विवृद्धिहेतुकाः बुद्बुदमांसपेशीप्रभृतयः, तथा कौमार-यौवनस्थविरत्वादयो भावा अन्नपानरसनिमित्ता निष्पद्यन्ते, अतः कार्याश्रयिणः उच्यन्ते, अन्नादिविषयभोगनिमित्ता जायन्ते ॥ ४३ ॥**

भाष्यानु०—"भावों से उपरञ्जित सूक्ष्म शरीर संसरण करता है" ऐसा (४० वीं कारिका में) कहा है, अब वे भाव कौन से हैं? इसको बताते हैं—भाव तीन प्रकार के माने जाते हैं—सांसिद्धिकाः० उनमें सांसिद्धिक जैसे—सृष्टि के आदि में उत्पन्न होते हुए भगवान् कपिल के साथ ही चार भाव उत्पन्न हुए धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य। प्राकृतभाव कहे जाते हैं—ब्रह्मा के चार

पुत्र सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार हुए। शरीरधारणानन्तर कार्य-कारण ज्ञान होने पर षोडशवर्षीय इन सनकादि को प्रकृति से (स्वभावतः) ही ये चार धर्मादि भाव उत्पन्न होने के कारण ये प्राकृतभाव कहलाये[1]। तथा वैकृताः जैसे आचार्यमूर्ति को निमित्त मानकर (अर्थात् गुरूपदेश आदि द्वारा) हमलोगों को ज्ञान उत्पन्न होता है, फिर ज्ञान से वैराग्य आता है और वैराग्य से धर्म में प्रवृत्ति होती है और धर्म से ऐश्वर्य होता है। अब चूँकि आचार्यमूर्ति स्वयं विकृत (प्रकृति का विकार) हैं इसीलिये (विकृतिजन्य होने से) ये भाव वैकृत कहे जाते हैं जिनसे अधिवासित (उपरञ्जित) हुआ यह लिङ्गशरीर संसरण करता है। ये चार सात्त्विक भाव हैं और इनके ही विपरीत तामस भाव हैं जिनकी "सात्त्विकमेतद्रूपं" इस (२३वीं) कारिका में व्याख्या की गई है। इस प्रकार आठ हो जाते हैं—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य। (प्रश्न) ये आठों भाव कहाँ रहते हैं ? दृष्टाः० बुद्धि ही करण है उसके आश्रित ये धर्मादि भाव रहते हैं! बुद्धिकरण है ऐसा कहा गया है "अध्यवसायो बुद्धिः धर्मो ज्ञानम्" इत्यादि (२३वीं) कारिका में। (धर्मादि भाव मुख्यतः बुद्धितत्त्व करण में ही रहते हैं, किन्तु धर्मादि भावों से उत्पन्न कलल बुद्-बुद् आदि अवस्थायें भी कही जाती हैं। इसी को स्पष्ट करते हैं—) कार्या० कार्य अर्थात् देह, उसके आश्रय कललादि जो माता-पिता से जन्य कहे जाते हैं। रज एवं वीर्य के संयोग होनेपर स्थूल देह की बुद्धिके हेतुभूत कलल बुद्-बुद् मांसपेशी आदि तथा कौमार, यौवन, वार्द्धक्य आदि भाव अन्न-पान के रस से निष्पन्न होते हैं अतः ये कार्याश्रयी (देह के आश्रित रहनेवाले) कहे जाते हैं क्योंकि ये अन्नादि विषयभोग के निमित्त से उत्पन्न होते हैं ॥४३॥

[निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्ग से विविध गति]

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण ।
ज्ञानेन चाऽपवर्गो, विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥४४॥

अन्वय—धर्मेण, ऊर्ध्वं, गमनं, भवति, अधर्मेण, अधस्ताद्, गमनं, भवति, ज्ञानेन च, अपवर्गः, विपर्ययात्, बन्धः, इष्यते ।

---

१. भाव तो धर्म, ज्ञान, वैराग्य, और ऐश्वर्य ये चार ही हैं। कपिल को जन्म से ही ये सिद्ध थे अतः सांसिद्धिक कहलाये किन्तु सनकादि के उत्पन्न होने के बाद षोडशवर्षीयावस्था में प्रकृत्या (स्वभावतः) उत्पन्न हुए अतः प्राकृत कहलाये, यही अन्तर है।

अर्थ—धर्म से ऊर्ध्वगमन होता है अधर्म से अधोगमन होता है। ज्ञान से अपवर्ग (मोक्ष) और विपर्यय (अज्ञान) से बन्ध होता है ॥४४॥

भाष्यम्—'निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेने'ति यदुक्तमत्रोच्यते—**धर्मेण गमनमूद्ध्र्वम्। धर्मं निमित्तं कृत्वोध्र्वमुन्नयति। ऊद्ध्र्वमित्यष्टौ स्थानानि गृह्यन्ते। तद्यथा—ब्राह्मं, प्राजापत्यं, सौम्यमैन्द्रं, गान्धर्वं, याक्षं, राक्षसं, पैशाचमिति–तत्र सूक्ष्मं शरीरं गच्छति। पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरान्तेष्वधर्मो निमित्तम्। किञ्च ज्ञानेन चापवर्गः। अपवर्गश्च पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानम्। तेन निमित्तेनापवर्गो =मोक्षः। ततः सूक्ष्मं शरीरं निवर्त्तते। परम–आत्मा उच्यते। विपर्ययादिष्यते बन्धः। अज्ञान निमित्तम्। स चैष नैमित्तिकः–प्राकृतो, वैकारिको, दाक्षिणिकश्च बन्ध इति वक्ष्यति पुरस्तात्। यदिदमुक्तं—**

प्राकृतेन च बन्धेन, तथा वैकारिकेण च।
दाक्षिणेन तृतीयेन बद्धो, नाऽन्येन मुच्यते ॥४४॥

भाष्यानु०—"निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन" जो (पूर्वकारिका में) कहा था उसपर करते हैं—धर्मेण० धर्म को निमित्त मानने से वह धर्म इस सूक्ष्म शरीर को ऊर्ध्व लोक में ले जाता है, ऊर्ध्व कहने से आठ स्थान ग्रहण किये जाते हैं—ब्राह्म, प्रजापत्य, सौम्य, ऐन्द्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस और पैशाच, इन लोकों में (धर्म करने से) वह सूक्ष्म शरीर जाता है। गमन० पशु, मृग, पक्षि, सरीसृप, स्थावर पर्यन्तों में (जाने में) अधर्म निमित्त होता है। **ज्ञानेन** २५ तत्त्वों का ज्ञान ही अपवर्ग है, उस (२५ तत्त्वों के ज्ञान) रूप निमित्त से अपवर्ग अर्थात् मोक्ष होना है। उससे सूक्ष्म शरीर निवृत हो जाता है) परम-आत्मा (परमात्मा) कहा जाता है। विपर्यया० (ज्ञान के विपर्यय = विपरीत अर्थात् अज्ञान से वन्ध होता है) अज्ञान इस वन्ध का निमित्त है, वह यह बन्ध 'नैमित्तिक है जो प्राकृत, वैकारिक, दाक्षिणिक भेदों से ३ प्रकार का होता है' ऐसा आगे कहेंगे जैसाकि कहा है—प्राकृत बन्ध से तथा वैकारिक बन्ध से तीसरे दाक्षिणिक बन्ध से बद्ध हुआ व्यक्ति किसी अन्य प्रकार से मुक्त नहीं होता ॥४५॥

वैराग्यात्प्रकृतिलयः, संसारो भवति-राजसाद्रागात्।
ऐश्वर्यादविघातो, विपर्ययात्तद्विपर्यासः ॥४५॥

अन्वय—**वैराग्यात्, प्रकृतिलयः, राजसाद्, रागात्, संसारः, भवति, ऐश्वर्यात्, अविघातः, विपर्ययात्, तद्विपर्यासः।**

अर्थ—वैराग्य से प्रकृति का लय होता हैं। राजस् राग से संसार (जन्म-मरण) होता है। ऐश्वर्य से अविघात और विपरीत (अनैश्वर्य) से विपर्यास (उलटा–विघात) होता है ॥ ४५ ॥

भाष्यम्—तथाऽन्यदपि निमित्तं—यथा कस्यचिद्वैराग्यमस्ति, न तत्त्वज्ञानं, तस्माद् अज्ञानपूर्वाद्वैराग्यात् प्रकृतिलयः, मृतोऽष्टासु प्रकृतिषु प्रधानबुद्ध्यहङ्कार-तन्मात्रेषु लीयते, न मोक्षः। ततो भूयोऽपि संसरति। तथा योऽयं राजसो रागः—'यजामि' 'दक्षिणां ददामि, येनामुष्मिन् लोकेऽत्र यद्दिव्यं मानुषं सुखमनुभवामि'। एतस्माद्राजसाद्रागात् संसारो भवति। तथा ऐश्वर्यादविघातः। एतदैश्वर्यमष्टगुण-मणिमादियुक्तं तस्मादैश्वर्यनिमित्तादविघातो नैमितिको भवति = ब्रह्मादिषु स्थानेष्वै-श्वर्यं न विहन्यते। किञ्चान्यत्,—विपर्ययात्तद्विपर्यासः तस्य = अविघातस्य विपर्यासो = विघातो भवति, अनैश्वर्यात् सर्वत्र विहन्यते ॥ ४५ ॥

भाष्यानु०—तथा और भी निमित्त है—वैराग्यात् जैसे किसी को वैराग्य तो है किन्तु तत्त्वज्ञान नहीं है उस अज्ञान पूर्वक वैराग्य से प्रकृतिलय होता है। (प्रकृतिलय का तात्पर्य है) मरने के बाद वह (सूक्ष्म शरीर) आठ प्रकृतियों-प्रधान, बुद्धि, अहङ्कार तथा ५ तन्मात्राओं—में लीन होता है (अर्थात् वह बार-बार जन्मता मरता है)। संसारो० तथा यह जो राजस राग है (जैसे) "मैं यज्ञ करता हूँ, दक्षिणा देता हूँ जिससे परलोक में तथा इस लोक में जो दिव्य (देवतासम्बन्धी तथा) मानुष (मनुष्यसम्बन्धी) सुख का अनुभव करता हूँ" इस प्रकार के राजस राग से भी संसार होता (जन्मता मरता) है। ऐश्वर्या० यह जो ऐश्वर्य आठ प्रकार का अणिमादि से युक्त है उस ऐश्वर्य से अविघात नैमित्तिक होता है अर्थात् ब्रह्मलोकादि स्थानों में ऐश्वर्य अप्रतिहत रहता है। और भी विपर्ययात्० विपरीत होने से उस अविघात का विपर्यास अर्थात् विघात होता है (तात्पर्य यह है कि) अनैश्वर्य से सर्वत्र यह सूक्ष्म शरीर प्रताड़ित होता है ॥ ४५ ॥

[बुद्धिसर्गनिरूपण]

एष प्रत्ययसर्गो विपर्यया-ऽशक्ति-तुष्टि-सिद्ध्याख्यः।
गुणवैषम्यविमर्दात्तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् ॥४६॥

अन्वय—एषः, प्रत्ययसर्गः, विपर्यय-अशक्ति-तुष्टि-सिद्ध्याख्यः, गुणवैषम्य-विमर्दात्, तस्य, तु, भेदाः पञ्चाशत्।

अर्थ—यह प्रत्ययसर्ग (बौद्धिक सृष्टि) है। यह विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि नाम से (चार प्रकार का) है। गुणों की विषमता (न्यूनाधिक्य) होने से इनके भेद तो पचास होते हैं ॥ ४६ ॥

भाष्यम्—एष निमित्तैः सह नैमित्तिकः षोडशविधो व्याख्यातः स क्रियात्मक इत्याह—यथा-एष षोडशविधो निमित्ति-नैमित्तिकभेदो व्याख्यातः, एष 'प्रत्ययसर्ग' उच्यते। प्रत्ययो = बुद्धिरित्युक्ता, अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो, ज्ञानमित्यादि। स च प्रत्ययसर्गश्चतुर्धा भिद्यते, विपर्ययाऽशक्ति-तुष्टि-सिद्ध्याख्य-भेदात्। तत्र संशय-ज्ञानं विपर्ययः। यथा कस्यचित् स्थाणुदर्शने 'स्थाणुरयं, पुरुषो वे' ति संशयः। अशक्तिर्यथा—तमेव स्थाणुं सम्यग् दृष्ट्वा संशयं छेत्तुं न शक्नोतीत्यशक्तिः। एवं तृतीयस्तुष्ट्याख्यो यथा—तमेव स्थाणुं ज्ञातुं, संशयितुं वा नेच्छति, 'किमनेनाऽस्माक'मित्येषा तुष्टिः। चतुर्थः सिद्ध्याख्यो यथा—आनन्दितेन्द्रियः स्थाणुमारूढां वल्लिं पश्यति शकुनिं वा, तस्य सिद्धिर्भवति 'स्थाणुरय'मिति। एवमस्य चतुर्विधस्य प्रत्ययसर्गस्य। गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत्। योऽयं सत्त्व-रजस्तमोगुणानां वैषम्यं = विमर्दः, तेन तस्य प्रत्ययसर्गस्य पञ्चाशद्भेदा भवन्ति ॥ ४६ ॥

भाष्यानु०—इस प्रकार निमित्तों (धर्माधर्मादि) के साथ नैमित्तिक (ऊर्ध्वगमन अधोगमनादि) की जो व्याख्या की गई उसका क्या स्वरूप है? इस प्रश्न पर कहते हैं—जैसे यह सोलह प्रकार के निमित्ति-नैमित्तिक भेद की व्याख्या की गई वह—एष० यह प्रत्ययसर्ग = बौद्धिकसृष्टि कही जाती है, क्योंकि प्रत्यय[1] शब्द से बुद्धि कही गई है "अध्यवसायो बुद्धिर्ज्ञानम्" इत्यादि कारिका में। वह प्रत्ययसर्ग चार प्रकार का होता है—विपर्यया० (विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि, सिद्धि इन भेदों से।) इनमें संशयरूप अज्ञान ही विपर्यय है, जैसे किसी स्थाणु = खूँटे को देखने पर यह खूँटा है या मनुष्य, ऐसा संशय होता है। अशक्ति—जैसे उसी खूँटे को अच्छी प्रकार देखकर संशय निवारण नहीं कर सकता यही अशक्ति या असामर्थ्य है। इसी प्रकार तीसरा तुष्टि नामक भेद है, जैसे उसी स्थाणु को देखकर न तो जानने की चेष्टा करता है और न

---

१. प्रतीयन्ते विषयाः अनेन=जिससे विषयों की प्रतीति होती हैं वह प्रत्यय कहलायेगा, विषयों की प्रतीति बुद्धि से ही होती हैं ऐसा "अध्यवसायो बुद्धिः" इत्यादि में स्पष्ट ही कहा गया है इसलिये प्रत्यय शब्द से बुद्धि ही ली जायगी।

संशय की। इसमें हमें क्या करना है (चाहे स्थाणु हो या पुरुष) इस प्रकार उपेक्षा कर देता है यही तुष्टि है। चौथा सिद्धि नामक भाव—जैसे स्थाणु पर आरूढ़ हुए पक्षी को या उस पर लगी हुई लता को देखकर उसे निश्चय हो जाता है कि यह स्थाणु ही है और अपने इस निश्चय से उसकी इन्द्रियाँ आनन्दित हो जाती हैं, यही सिद्धि है। इस प्रकार चार प्रकारों वाले इस प्रत्यय-सर्ग (बौद्धिक सृष्टि) का गुणवैषम्य० यह जो सत्त्व-रज-तमो गुणों का वैषम्य-रूप विमर्द है (अर्थात् उनका न्यूनाधिक्य होता है) उससे प्रत्यय सर्ग के ५० भेद होते हैं ॥४६॥

[पूर्वोक्त पचास भेदों का विवरण]

पञ्च विपर्ययभेदाः भवन्त्यशक्तिस्तु करणवैकल्यात् ।
अष्टाविंशतिभेदा, तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥४७॥

अन्वय—पञ्च, **विपर्ययभेदाः, भवन्ति, अशक्तिः, तु, करणवैकल्यात्, अष्टाविंशतिभेदा, तुष्टिः, नवधा, सिद्धिः, अष्टधा।**

अर्थ—पाँच विपर्यय के भेद होते हैं, अशक्ति तो इन्द्रियों की विकलता के कारण २८ भेदों वाली (होती है)। तुष्टि नौ प्रकार की, सिद्धि आठ प्रकार की होती है ॥४७॥

भाष्यम्—**तथा क्वापि सत्त्वमुत्कटं भवति, रजस्तमसी उदासीने। क्वापि रजः, क्वापि तम इति। भेदाः कथ्यन्ते**—पञ्च विपर्ययभेदाः। **ते यथा—तमो, मोहो, महामोहः, तामिस्राऽन्धतामिस्र इति। एषां भेदानां नानात्वं वक्ष्यतेऽनन्तर-मेवेति** अशक्तेस्त्वष्टाविंशति भेदा भवन्ति, करणवैकल्यात्। **तानपि वक्ष्यामः। ऊर्ध्वस्रोतसि राजसानि ज्ञानानि। तथा** तुष्टिर्नवधाऽष्टविधा सिद्धिः। **सात्त्विकानि ज्ञानानि तत्रैवोर्ध्वस्रोतसि॥ ४७ ॥**

भाष्यानु०—तथा कभी सत्त्वगुण उत्कट (प्रबल) हो जाता है और रजोगुण एवं तमोगुण उदासीन (सत्त्व की अपेक्षा हीन होने से दबे) रहते हैं। कभी रजोगुण (प्रबल होता है और सत्त्व एवं तमोगुण उदासीन रहते हैं), कभी तमोगुण (प्रबल रहता है और सत्त्व रजोगुण उदासीन रहते हैं)। ये ही भेद कहे जाते हैं—पञ्च० विपर्यय के ५ भेद हैं। वे ये हैं—तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र[1]। इन भेदों का नानात्व आगे कहा जायगा, करणों

---

१. **इन्हीं को योग शास्त्र में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश कहा गया है।**

(बुद्धि आदि १३) की विकलता से जो अशक्ति होती है उसके २८ भेद हैं, उन्हें भी आगे कहेंगे। वे ऊर्ध्वस्रोता के राजस ज्ञान हैं। तथा तुष्टिर्नव० तुष्टि ९ प्रकार की—तथा सिद्धि ८ प्रकार की होती है। जो ऊर्ध्वस्रोता के सात्त्विक ज्ञान हैं ॥४७॥

[विपर्यय के अवान्तर भेद]

भेदस्तमसोऽष्टविधो, मोहस्य च, दशविधो महामोहः।
तामिस्रोऽष्टादशधा, तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥४८॥

अन्वय—**तमसः भेदः, अष्टविधः, मोहस्य च, महामोहः, दशविधः, तामिस्रः अष्टादशधा, तथा, अन्धतामिस्रः, भवति।**

अर्थ—तम के भेद आठ प्रकार के हैं। मोह के भी (आठ भेद हैं) महामोह दश प्रकार का है। तामिस्र १८ प्रकार का है और वैसे ही अन्धतामिस्र भी (१८ प्रकार का) है ॥४८॥

भाष्यम्—एतत् **क्रमेणैव वक्ष्यते। तत्र विपर्ययभेदा उच्यन्ते**—तमसस्तावदष्टधा भेदः। **प्रलयोऽज्ञानाद्विभज्यते, सोऽष्टासु प्रकृतिषु लीयते,** प्रधानबुद्ध्य**हङ्कारपञ्चतन्मात्राख्यासु तत्र लीनमात्मानं मन्यते**—'मुक्तोऽह'मिति। तमोभेद **एषः। अष्टविधस्य** मोहस्य **भेदो अष्टविध एवेत्यर्थः। तत्राऽष्टगुणमणिमाद्यैश्वर्यं, तत्र सङ्गादिन्द्रादयो देवा न मोक्षं प्राप्नुवन्ति, पुनश्च तत्क्षये संसरन्त्येषोऽष्टविधो 'मोह' इति।** दशविधो महामोहः। **शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा देवानामेते पञ्च विषयाः सुखलक्षणाः, मानुषाणामप्येते एव शब्दादयः पञ्च विषयाः। एवमेतेषु दशसु 'महामोह' इति।** तामिस्रोऽष्टादशधा। **अष्टविधमैश्वर्यं, दृष्टानुश्रविका दश, एतेषामष्टादशाना सम्पदमनुनन्दन्ति, विपदं नानुमोदन्ते।** एषोऽष्टादशविधो **विकल्पस्तामिस्रः। यथा तामिस्रोऽष्टगुणमैश्वर्यं दृष्टानुश्रविका दश विषयास्तथाऽन्धतामिस्रोऽप्यष्टादशभेद एव। किन्तु विषयसम्पत्तौ सम्भोगकाले य एव म्रियतेऽष्टगुणैश्वर्याद्वा भ्रश्यते, ततस्तस्य महद्दुःखमुत्पद्यते,** सोऽन्धतामिस्र **इति। एवं विपर्ययभेदास्तमःप्रभृतयः पञ्च प्रत्येकं भिद्यमाना** द्विषष्टिभेदाः **संवृत्ता इति ॥४८॥**

भाष्यानु०—(४७वीं कारिका में प्रत्ययसर्ग के जो ५० भेद कहे हैं) ये क्रम से कहे जायेंगे, उनमें पहिले विपर्यय के (५) भेद कहे जाते हैं—तामस० [तमःशब्द का अर्थ–] अज्ञान से प्रलय विभक्त होता है (अर्थात् जिसमें प्रलय शब्द के अर्थ की अज्ञानमूलक विवेचना होती है वही तम है) वह प्रधान,

बुद्धि, अहङ्कार और ५ तन्मात्राएँ, इन ८ प्रकृतियों में लीन होता है, इन ८ अनात्मपदार्थों में लीन हुए आत्मा से ही समझता है "मैं मुक्त हूँ" यही तम के भेद हैं[1]। **मोहस्य च०** आठ प्रकार के मोह के भी ८ ही भेद हैं। जिनमें अणिमा आदि ८ प्रकार के ऐश्वर्य को पाकर इन्द्रादि देवता मोक्ष को नहीं प्राप्त होते, उस अणिमादि ऐश्वर्य के क्षीण होने पर फिर जन्मते मरते रहते हैं। ८ प्रकार का मोह हैं। **दशविधो**[2]**०**–शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये ५ विषय हैं जो देवताओं के तो सुखस्वरूप होने से सूक्ष्म (दिव्य) हैं किन्तु मनुष्यों के ये ही ५ स्थूल (अदिव्य) हैं। इन्हीं शब्दादि ५ विषयों के दिव्यादिव्य भेद से दश प्रकार का महामोह[3] होता है। **तामिस्रो०** आठ प्रकार का (अणिमादि) ऐश्वर्य और लौकिक तथा अलौकिक शब्दादि ५।५ विषय इन (८ + १०) अठारहों के रहने पर प्रसन्न होना तथा न रहने पर विषण्ण होना ही १८ प्रकार का तामिस्र[4] है। तथा **भवत्यन्धतामिस्रः०** ८ अणिमादि ऐश्वर्य तथा १० दिव्यादिव्य विषयों के भेद से तामिस्र १८ प्रकार का होता है। ऐसे ही अन्धतामिस्र भी १८ प्रकार का है। अन्तर यह है कि शब्दादि विषयों के भोग भोगने में जो मर जाता है या अणिमादि ऐश्वर्य से भ्रष्ट हो जाता है तो उसे अत्यन्त दुःख होता है। वह (मृत्यु या ऐश्वर्य से भ्रष्ट होने का भय ही "अभिनिवेश" अथवा) "अन्धतामिस्र" कहलाता है। इस प्रकार विपर्यय के ५ भेद तम आदि प्रत्येक अपने-अपने भेदों से भिन्न-भिन्न रूप में विभक्त होकर भी कुल ६२ प्रकार के होते हैं—[तम ८ + मोह ८ + महामोह १० + तामिस्र १८ + अन्धतामिस्र १८=६२) ॥ ४८ ॥

---

१. ८ प्रकृतियों में लीन होने से इसके ८ भेद माने गये हैं। अनात्मपदार्थों से आत्मज्ञानरूपता ही 'अविद्या' है और इसी को सांख्यमें 'तम' कहा गया है।

२. अणिमादि ८ प्रकार के ऐश्वर्य को पाकर "मैं सिद्ध हूँ" ऐसे अहंभाव का आत्मा में होना ही मोह है जिसे योग दर्शन में 'अस्मिता' कहा है। चूँकि अणिमादि ८ इसके विषय हैं इसलिये इसे ८ प्रकार का माना गया है।

३. लौकिक तथा अलौकिक शब्दादि विषयों में चित्त की आसक्ति ही 'राग' या महामोह है।

४. अर्थात् दूसरे पुरुषों से भोगे जाने वाले दिव्या-दिव्य भेद से ५।५ शब्दादि विषयों तथा अणिमादि ८ ऐश्वर्यों में बुराई ही द्वेष है, जिसे सांख्य के शब्दों में "तामिस्र" कहा गया है।

[अशक्ति के २८ भेद]

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम् ॥४९॥

अन्वय—एकादश, इन्द्रियवधाः, बुद्धिवधैः, सह, अशक्तिः, उद्दिष्टा, तुष्टिसिद्धीनां, विपर्ययात्, बुद्धेः, सप्तदश, वधाः ।

अर्थ—ग्यारह इन्द्रियों के वध (कुंठित होना) बुद्धिवधों के साथ अशक्ति कहलाती है तुष्टि और सिद्धियों के विपर्यय से बुद्धि के सत्रह वध होते हैं ॥४९॥

भाष्यम्—अशक्तिभेदाः कथ्यन्ते–'भवन्त्यशक्तेश्च करणवैकल्यादष्टाविंशति भेदा' इत्युद्दिष्टम्। तत्रैकादशेन्द्रियवधाः बाधिर्यम्, अन्धता, प्रसुप्तिः, उपजिह्विका, घ्राणपाको, मूकता, कुणित्वं, खाञ्ज्यं, गुदावर्त्तः, क्लैब्य-मुन्माद इति। सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा ये बुद्धिवधास्तैः सहाऽशक्तेरष्टाविंशतिभेदा भवन्ति।। सप्तदश वधा बुद्धेः। सप्तदशवधास्ते तुष्टिभेद-सिद्धिभेदवैपरीत्येन। तुष्टिभेदा नव, सिद्धिभेदा अष्टौ, एतद्विपरीतैः सह एकादश (इन्द्रिय) वधा, एवमष्टाविंशतिविकल्पा अशक्तिरिति ॥ ४९ ॥

भाष्यानु०—अब अशक्ति के भेद कहे जाते हैं—"करणों (बुद्धि आदि) के वैकल्य[1] से अशक्ति के २८ भेद होते हैं" ऐसा (४७ वीं कारिका में) कहा है ! उन २८ भेदों में—एका० ग्यारह तो इन्द्रियवध हैं—बाधिर्य (श्रवणशक्ति का नाश), अन्धता (नेत्र की दर्शनशक्ति का विनाश), प्रसुप्ति (त्वक्शक्ति को शून्यता), उपजिह्विका (रसनाशक्ति की हीनता) घ्राणपाक (गन्धशक्ति का ह्रास), मूकता (वाक्शक्ति का विनाश), कुणित्व (करशक्ति का अभाव), खाञ्ज्य (लँगड़ापन = पादशक्ति का राहित्य) (गुदावर्त) (पायुशक्ति की शून्यता), क्लैब्य (नपुंसकता = उपस्थशक्ति का ह्रास), उन्माद (मानसिक सङ्कल्पशक्ति की शून्यता। सह० जो बुद्धिवध हैं। उनके साथ इनको मिलाकर अशक्ति के २८ भेद होते हैं। क्योंकि सप्तदश० सत्रह वध बुद्धि के हैं जो तुष्टि और सिद्धि के भेदों की विपरीतता से होते हैं। तुष्टि के ९ तथा सिद्धिके ८ भेद अगली कारिकाओं में कहे जायेंगे। उनके विपरीत भाव भी सत्रह (९ + ८) होंगे। उनके साथ पूर्वोक्त ११ इन्द्रिय वधों को मिलाने से अशक्ति के २८ भेद हो जाते हैं ॥ ४९ ॥

---

१. विकलता = कुण्ठित होना = अपने अपने विषयों को ग्रहण करने की सामर्थ्य का अभाव।

[नवधा तुष्टि]

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।
बाह्या विषयोपरमात्पञ्च, नव तुष्टयोऽभिमताः ॥५०॥

अन्वय—प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः, चतस्रः, आध्यात्मिक्यः, विषयोपरमात्, पञ्च, बाह्याः, नव तुष्टयः, अभिमताः ।

अर्थ—प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य नामक चार आध्यात्मिकी, (पाँच) विषयों के शान्त होने से पाँच बाह्य, (इस प्रकार मिलाकर) नौ तुष्टियाँ कहीं गई हैं ॥५०॥

भाष्यम्—विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनामेवं भेदक्रमो द्रष्टव्यः । तत्र तुष्टिर्नवधा कथ्यते—आध्यात्मिक्यश्चतस्रस्तुष्टयः । अध्यात्मनि भवा आध्यात्मिक्यः । ताश्च प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः । तत्र प्रकृत्याख्या यथा कश्चित् प्रकृतिं वेत्ति, तस्याः सगुणनिर्गुणत्वं च, तेन तत्त्वं = तत्कार्यं विज्ञायैव केवलं तुष्टस्तस्य नास्ति मोक्षः । एषा प्रकृत्याख्या । उपादानाख्या यथा—कश्चिदविज्ञायैव तत्त्वान्युपादानग्रहणं करोति—त्रिदण्डकमण्डलुविविदिषाभ्यो मोक्ष' इति, तस्यापि नास्ति मोक्ष इति, एषा उपादानाख्या । तथा कालाख्या—'कालेन मोक्षो भविष्यतीति' किं तत्त्वाभ्यासेनेत्येषा कालाख्या तुष्टिस्तस्य नास्ति मोक्ष इति । तथा भाग्याख्या—'भाग्येनैव मोक्षो भविष्यती' ति भाग्याख्या । चतुर्द्धा तुष्टिरिति । बाह्या विषयोपरमाच्च पञ्च । बाह्यास्तुष्टयः पञ्च-विषयोपरमात् । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेभ्य उपरतोऽर्जनरक्षण-क्षय-सङ्ग-हिंसा-दर्शनात् । (धन) वृद्धिनिमित्तं पाशुपाल्यवाणिज्यप्रतिग्रहसेवाः कार्याः, एतदर्जनं दुःखम् । अर्जितानां रक्षणे दुःखम् । उपभोगात्क्षीयत इति क्षयदुःखम् । तथा विषयोपभोगसङ्गे कृते नास्तीन्द्रियाणामुपशम इति सङ्गदोषः । तथा न अनुपहत्य भूतान्युपभोग इत्येष हिंसादोषः । एवमर्जनादिदोषदर्शनात् पञ्चविषयोपरमात् पञ्च तुष्टयः । एवमाध्यात्मिकी—बाह्याभेदान्नव तुष्टयः । तासां नामानि शास्त्रान्तरे प्रोक्तानि—'अम्भ, सलिलं, मेघो, वृष्टिः, सुतमः, पारं, सुनेत्रं, नारीकम्, अनुत्तमाम्भसिकम्' इति । आसां तुष्टीनां विपरीता अशक्तिभेदाद् बुद्धिवधा भवन्ति । तद्यथा—अनम्भोऽसलिलममेघ इत्यादिवैपरीत्याद् बुद्धिवधा इति ॥ ५० ॥

भाष्यानु०—तुष्टि और सिद्धि के विपरीत भाव अशक्ति के भेदों में गिने गये हैं अतः पहिले तुष्टि और सिद्धि के भेदों को जानना चाहिये[1]। उनसे तुष्टि ९ प्रकार की कही जाती है—आध्या० चार तुष्टियाँ आध्यात्मिकी होती हैं। आत्मा में होनेवाली तुष्टियाँ आध्यात्मिकी[2] कही जाती हैं। वे आध्यात्मिको तुष्टियाँ प्रकृत्युपा० प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य नाम से चार होती हैं। उनमें प्रकृति नामक तुष्टि—जैसे कोई व्यक्ति प्रकृति को जानता है, उसके सगुणत्व और निर्गुणत्व को भी समझता है। अव उसके तत्त्वरूप कार्य को जानकर ही केवल यदि वह तुष्ट हो जाता है तो उसे मोक्ष नहीं होता।[3] यही प्रकृति नामक तुष्टि है। उपादान नाम की तुष्टि जैसे—कोई तत्त्वों को न जानता हुआ केवल दण्ड, कमण्डलु और ज्ञान की जिज्ञासा से ही मोक्ष होगा यह सोचकर संन्यास ले लेता है, उसका भी मोक्ष नहीं होता[4]। यह उपादान तुष्टि है। काल नामक तुष्टि जैसे—समय आने पर मोक्ष स्वयं ही हो जायगा तत्त्वों के अभ्यास की क्या आवश्यकता ? ऐसा सोचकर जो सन्तुष्ट रहता है वह काल नामक तुष्टि है, उसका भी मोक्ष नहीं होता। भाग्य नामक तुष्टि—जैसे भाग्य से ही मोक्ष होगा प्रयत्न करने से क्या लाभ ? ऐसा जो सोचता है वह

---

१. क्योंकि प्रतियोगिज्ञान पूर्वक ही विरोधिज्ञान होता है अर्थात् जब तक तुष्टि और सिद्धि के भेदों का ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक उनके विपरीत भावों का ज्ञान कैसे होगा ?

२. आत्मा को प्रकृति आदि से भिन्न जानकर भी असत् उपदेशादि द्वारा जो आत्मश्रवणादि में प्रयत्न नहीं करता, उसकी उस आत्मविषयिणी तुष्टि को आध्यात्मिकी कहते हैं।

३. जैसे किसी को प्रकृति पुरुष आदि वत्त्वों का ज्ञान है और वह यह भी जानता है कि प्रकृति आदि से भिन्न आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से ही मुक्ति होती है। किन्तु गुरु के उपदेश से वह समझता है कि वह साक्षात्कार भी तो प्रकृतिका ही परिणाम है अतः प्रकृति से ही हो जायगा। उसके लिए ध्यानादि की क्या आवश्यकता ? अतः ध्यानादि के प्रयत्न को छोड़ देता है।

४. प्रकृति तो सर्वसाधारण ही है, उसस साक्षात्कार होगा तो सबको हो जायगा अतः संन्यास लेने से ही साक्षात्कार होगा, ध्यानादि की क्या आवश्यकता यह सोचकर जो संन्यास से ही तुष्ट हो जाता है ध्यानादि का प्रयत्न नहीं करता।

भाग्य नामक तुष्टि है[1]। ये ही चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ हैं। बाह्या० शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँच विषयों के वैराग्य से होने वाली पाँच तुष्टियाँ बाह्य तुष्टियाँ कहलाती हैं। अर्जन, रक्षण, क्षय, सङ्ग और हिंसा इन दोषों के कारण इन विषयों से उपरति (विरक्ति) होती है। जैसे अपनी संपत्ति को बढ़ाने के लिए पशु पालन, व्यापार करना, प्रतिग्रह लेना, सेवा करना आदि-आदि कष्ट सहने पड़ते हैं। यही अर्जनदुःख (जुटाने का कष्ट) है। अर्जित करने पर भी उनकी रक्षा करने का कष्ट होता है। उनका उपभोग करने पर वे क्षीण होने लगते हैं, यह उनका क्षयदुःख है। विषयों का उपभोग करने पर इन्द्रियों को शान्ति नहीं मिलती प्रत्युत और अधिक आसक्ति उन पर होती है यह सङ्गदोष है। विना दूसरे प्राणियों को कष्ट पहुँचाये इन विषयों का उपभोग नहीं होता (अर्थात् विषयों का उपभोग करने पर दूसरे प्राणियों को अनुपलब्धि जन्य कष्ट स्वभावतः होता है) इसलिये यह हिंसादोष है। इस प्रकार अर्जनादि दोष देखने से पाँचों विषयों से जो विरक्ति होती है ये ही ५ बाह्य तुष्टियाँ हैं। इस तरह चार आध्यात्मिक और ५ बाह्य मिलाकर नौ तुष्टियाँ होती हैं। इनके नाम दूसरे शास्त्र (योग) में इस प्रकार कहे हैं—"अम्भ, सलिल, मेघ, वृष्टि, सुतम, पार, सुनेत्र, नारीक, अनुत्तम और आम्भसिक"। इन तुष्टियों के विपरीत जो भाव हैं वे ही अशक्ति भेद से बुद्धिवध कहे जाते हैं। जैसे—"अनम्भ, असलिल अमेघ, अवृष्टि, असुतम, अपार, असुनेत्र, अनारीक, उत्तम, और अनाम्भसिक" ये वुद्धिवध हैं ॥ ५० ॥

[आठ प्रकार की सिद्धि और उसके प्रतिरोधक]

ऊहः शब्दोऽध्ययनं, दुःखविघातास्त्रयः, सुहृत्प्राप्तिः ।
दानं च, सिद्धयोऽष्टौ, सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥५१॥

अन्वय—ऊहः, शब्दः, अध्ययनं, त्रयः दुःखविघाताः सुहृत्प्राप्तिः दानं च, अष्टौ, सिद्धयः, सिद्धेः पूर्वः, त्रिविधः अङ्कुशः ।

अर्थ—ऊह, शब्द, अध्ययन, तीन प्रकार के दुःखविघात, सुहृत्प्राप्ति और दान ये ८ सिद्धियाँ हैं। सिद्धि के पूर्व तीन प्रकार का (विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि रूप) अंकुश है ॥ ५१ ॥

---

१. सन्यास लेने से ही साक्षात्कार नहीं होगा जब उसका समय आयेगा तभी होगा यह मानकर जो तुष्टि होती है वह कालतुष्टि तथा समय से भी कैसे मोक्ष होगा ? वह तो जब भाग्य में होगा तभी होगा ऐसा मानकर जो तुष्टि होती है वह भाग्य तुष्टि है।

भाष्यम्—सिद्धिरुच्यते। ऊहो यथा कश्चिन्नित्यमूहते—किमिह सत्यं, किं परं, किं नैःश्रेयसं, किं कृत्वा कृतार्थः स्याम्' इति चिन्तयतो ज्ञानमुत्पद्यते, 'प्रधानादन्य एव पुरुषः, इतोऽन्या बुद्धिरन्योऽहङ्कारोऽन्यानि तन्मात्राणीन्द्रियाणि, पञ्च महाभूतानी' त्येवं तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते, येन मोक्षो भवति। एषा 'ऊहा'ख्या प्रथमा सिद्धिः। तथा शब्दज्ञानात् प्रधानपुरुषबुद्धयहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियपञ्चमहाभूतविषयं ज्ञानं भवति, ततो मोक्ष इत्येषा शब्दाख्या सिद्धि। अध्ययनाद् = वेदादिशास्त्राध्ययनात् पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं प्राप्य, तेन मोक्षं यातीत्येषा तृतीया सिद्धिः। दुःखविघातत्रयम्। आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकदुःखत्रयविघाताय गुरुं समुपगम्य तत उपदेशान्मोक्षं याति, एषा चतुर्थी सिद्धिः। एषैव दुःखत्रयभेदात्त्रिधा कल्पनीयेति षट् सिद्धयः। तथा सुहृत्प्राप्तिः। यथा कश्चित् सुहृज्ज्ञानमधिगम्य मोक्षं गच्छति एषा सप्तमी सिद्धिः। दान यथा—कश्चिद्भगवतां प्रत्याश्रयौषधित्रिदण्डकुण्डिकादीनां ग्रासाच्छादनादीनां च दानेनोपकृत्य तेभ्यो ज्ञानमवाप्य मोक्षं याति। एषाष्टमी सिद्धिः। आसामष्टानां सिद्धीनां शास्त्रान्तरे संज्ञाः कृताः—तारं, सुतारं, तारतारं, प्रमोदं, प्रमुदितं, प्रमोदमानं, रम्यकं, सदाप्रमुदितम् इति। आसां विपर्ययाद् बुद्धेर्वधा ये विपरीतास्ते असक्तौ निक्षिप्ताः, यथाऽतारमसुतारमतारतारमित्यादि द्रष्टव्यम्। अशक्तिभेदा अष्टाविंशतिरुक्तास्ते सह बुद्धिवधैरेकादशेन्द्रियवधा इति तत्र तुष्टिविपर्यया नव, सिद्धीनां विपर्यया अष्टौ, एवमेते सप्तदश बुद्धिवधाः, एतैः सहेन्द्रियवधा अष्टाविंशतिरशक्तिभेदाः पश्चात् कथिता इति विपर्ययाऽशक्तितुष्टिसिद्धीनामेवोद्देशो, निर्देशश्च कृत इति। किञ्चान्यत्? सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः। सिद्धेः पूर्वा या विपर्ययाऽशक्तितुष्टयस्ता एव सिद्धेरङ्कुशस्तद्भेदादेव त्रिविधः। यथा—हस्ती गृहीताङ्कुशेन वशो भवति, एवं विपर्ययाऽशक्तितुष्टिभिर्गृहीतो लोकोऽज्ञानमाप्नोति, तस्मादेताः परित्यज्य सिद्धिः सेव्या, सिद्धेस्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते, तस्मान्मोक्ष इति ॥५१॥

भाष्यानु०—अब सिद्धियाँ कही जाती हैं—ऊहः० ऊह (तर्क) जैसे—"कोई नित्य तर्क करता है कि इस संसार में क्या सत्य है? क्या असत्य है?, क्या निःश्रेयस् (मोक्ष) है? और क्या करके मैं कृतार्थ होऊँगा?" ऐसा विचार करते-करते उसे ज्ञान हो जाता है कि पुरुष प्रधान से भिन्न है, बुद्धि भी इससे भिन्न है, अहङ्कार भी इससे पृथक् है, तन्मात्राएँ और इन्द्रियाँ भी इससे भिन्न है, पंचमहाभूत भी इससे भिन्न ही हैं, इस प्रकार

उसे तत्त्वज्ञान होता जिससे मोक्ष हो जाता है।" यही ऊह नाम की प्रथम सिद्धि है[1]। तथा शब्दज्ञान से (दूसरों को दिये जाते हुए सांख्यशास्त्र के पाठ को सुनकर क्रियाकारकादिरूप पदसमुदायात्मक शब्द से) जो प्रकृति, पुरुष, बुद्धि, अहङ्कार, तन्मात्र, इन्द्रिय और पंचमहाभूत विषयक ज्ञान होता है और उससे मोक्ष होता है, यह शब्द नाम की दूसरी सिद्धि है। अध्ययन से अर्थात् गुरु-मुख से वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करके २५ तत्त्वों का ज्ञान होने से जो मोक्ष होता है वह अध्ययन नाम की तीसरी सिद्धि है। दुःख० आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इस तीन प्रकार के दुःख का नाश करने के लिये गुरु के पास जाकर उपदेश से जो मोक्ष प्राप्ति होती है वह चौथी सिद्धि है। चूँकि दुःख तीन हैं जिनके विनाश से यह सिद्धि होती है इसलिये यह भी तीन प्रकार की मानी जाती है। पूर्वोक्त तीन सिद्धियों को मिलाकर ये ६ सिद्धियाँ हुई। सुहृत्प्राप्तिः० कोई ज्ञानी मित्र की प्राप्ति से भी तत्वज्ञान को प्राप्त कर लेता है यह सातवीं सिद्धि है। दानञ्च० कोई तत्वज्ञानियों को आश्रय औषधि, दण्डकमण्डलु, भोजनाच्छादन आदि देकर बदले में उनसे तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करता है, यह आठवीं सिद्धि है[2]। सिद्धयोऽष्टौ० इस प्रकार इन आठ सिद्धियों के शास्त्रान्तर (योगशात्र) में ये नाम हैं—"तार, सुतार, तारतार, प्रमोद, प्रमुदित, प्रमोदमान, रम्यक तथा सदामुदित" इनके विपर्यय (वैपरीत्य) से जो बुद्धिवध होते हैं वे अशक्ति में गिने जाते हैं, जैसे—अतार, इत्यादि। अशक्ति के २८ भेद जो कहे हैं वे इन १७ बुद्धिवधों के साथ ११ इन्द्रिय वधों को मिलाकर ही होते हैं, जिसमें ९ तुष्टियों के विपरीत ८ सिद्धियों के विपरीत ये १७ बुद्धिवध और इनके साथ ११ इन्द्रियवध पहिले कहे जा चुके हैं। इस प्रकार विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि इनका उद्देश्य और निर्देश (अर्थात्

---

१. अर्थात् बिना किसी उपदेशादि के पूर्व जन्मान्तरों के अभ्यासबल से स्वयं विचार सामर्थ्य रूप सिद्धि को ऊह कहते हैं।

२. तत्त्वकौमुदीकार श्रीवाचस्पति मिश्र ने कारण-कार्य-भाव के अनुसार पहिले अक्षरज्ञानरूप अध्ययनसिद्धि, फिर उससे होने वाली अर्थज्ञानरूप शब्दसिद्धि, तथा उसके अनन्तर विचारात्मिका ऊहशक्ति को रखा है। जिसमें पहिली दो को श्रवण तथा ऊह को मनन कहा है। तब इनके बाद गुरु ज्ञानी मित्र की प्राप्ति और अन्त में विवेक ज्ञान की शुद्धि रूप दान की सिद्धि कही है।

स्वरूप और लक्षण) बता दिये गये हैं। और भी सिद्धेः पूर्वो० सिद्धि से पूर्व जो विपर्यय अशक्ति और तुष्टि ये तीन कहे गये हैं वे सिद्धि के लिए अंकुश के समान हैं, चूँकि वे तीन है इसलिए यह अंकुश तीन प्रकार का कहा गया है। जैसे हाथी अंकुश के द्वारा वश में कर लिया जाता है, उसी प्रकार विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि के द्वारा गृहीत हुआ लोक भी अज्ञान को प्राप्त करता है,[1] इसलिए इन (प्रतिबन्धकों) को छोड़कर सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये, सिसि से तत्वज्ञान होता है और तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है ॥ ५१ ॥

[द्विविधसर्गप्रयोजन]

न विना भावैः, लिङ्गं, न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः।
लिङ्गाख्यो, भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्त्तते सर्गः ॥५२॥

अन्वय—**बिना, भावैः, लिङ्ग न, विना लिङ्गेन, भावनिर्वृत्तिः, न, तस्मात्, लिङ्गाख्यः, भावाख्यः, (च) द्विविधः, सर्गः; प्रवर्तते।**

अर्थ—विना भावों (प्रत्यय सर्गों) के लिङ्ग (तन्मात्र सर्ग) नहीं होता और विना लिङ्ग (तमात्रसर्ग) के भावनिर्वृत्ति (प्रत्यय सर्ग की स्थिति) नहीं होगी। अतः लिङ्ग नामक तथा भाव नामक दो प्रकार से सर्ग (सृष्टि) चलता है ॥ ५२ ॥

भाष्यम्—**अथ यदुक्तं** 'भावैरधिवासितं लिङ्गं' **तत्र भावा धर्मादयोऽष्टा-वुक्ता बुद्धिपरिणामाः,-विपर्ययातुष्टिसिद्धिपरिणताः, स भावाख्यः--प्रत्ययसर्गो,** लिङ्गश्च **तन्मात्रसर्गश्चतुर्दशभूतपर्यन्त उक्तः, तत्रैकेनैव सर्गेण पुरुषार्थसिद्धौ** किमुभयविधसर्गेणेत्यत आह-भावैः = प्रत्ययसर्गैविना लिङ्गं न = **तन्मात्रसर्गो** न, पूर्वपूर्वसंस्कारादृष्टाकारितत्वादुत्तरोत्तरदेहलम्भस्य। लिङ्गेन = **तन्मात्रसर्गेण** च—विनाभावनिर्वृत्तिर्न। **स्थूलसूक्ष्मदेह-साध्यात्वाद्धर्मादेः, अनादित्वांच्च सर्गस्य बीजाङ्कुरवदन्योन्याश्रयो न दोषाय, तत्तज्जातीयापेक्षित्वेऽपि तत्तद्व्यक्तीनां परस्परानपेक्षित्वात्।** तस्माद्भावाख्यो, लिङ्गाख्यश्च द्विबिधः प्रवर्त्तति सर्ग इति ॥ ५२ ॥

भाष्यानु०—अत्र जो ४० वीं कारिका में कहा—"भावों से लिङ्ग = सूक्ष्म शरीर उपरञ्जित रहता है" वहाँ भाव धर्माधर्मादि आठ कहे गये हैं जो बुद्धि के परिणाम हैं और विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि, सिद्धि रूप में परिणत होते

१. अर्थात् जैसे हाथी की स्वच्छन्द गति में अंकुश प्रतिबन्धक है उसी प्रकार सिद्धि की प्राप्ति में विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि भी प्रतिबन्धक है।

है वही भाव नामक प्रत्ययसर्ग (=बौद्धिक सृष्टि) कहा जाता है। और लिङ्गशरीर रूप तन्मात्रसर्ग चौदह भुवन पर्यन्त कहा गया है। अब यहाँ शंका होती है कि एक ही सर्ग से पुरुषार्थ-सिद्धि हो जाती, दो प्रकार का (भावसर्ग और लिङ्गसर्ग) मानने से क्या लाभ ? इस पर कहते हैं—भावैः० प्रत्ययसर्गों के बिना (अर्थात् धर्माधर्मादि सहित भोगसाधन इन्द्रिय अन्तःकरणादि के बिना) लिङ्ग न तन्मात्रसर्ग नहीं रहता। (क्योंकि पूर्व पूर्व स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के संस्कार उत्तर-उत्तर स्थूल सूक्ष्म देह की प्राप्ति में अदृष्ट रूप से हेतु होते हैं।) लिङ्ग न तन्मात्रसर्ग के विना भावनिर्वृत्तिर्न (भाव सर्ग की स्थिति नहीं हो सकती) क्योंकि धर्माधर्मादि स्थूल और सूक्ष्म देह से ही साध्य हैं। सृष्टि के अनादि होने से बीजाङ्कुरवत् इन दोनों में अन्योन्याश्रय दोष[1] नहीं होता। क्योंकि तत्-तत् जातियो की अपेक्षा रहते हुए भी तत्तद् व्यक्तियों में परस्पर अनपेक्षिता ही रहती है। तस्मात्०—इसलिये लिङ्गात्मक और भावनात्मक (सूक्ष्म या तन्मात्रसर्ग तथा भाव या प्रत्ययसर्ग) दो प्रकार के ही सर्ग की प्रवृत्ति होती है ॥ ५२ ॥

[भौतिकसर्गनिरूपण]

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥ ५३ ॥

अन्वय—**दैवः, अष्टविकल्पः, तैर्यग्योनश्च, पञ्चधा, भवति, मानुष्यश्च, एकविधः, समासतः, भौतिकः, सर्गः।**

अर्थ—दैव सर्ग आठ प्रकार का है। तिर्यक् सृष्टि पाँच प्रकार की है। मनुष्य सृष्टि एक प्रकार की है। यही संक्षेप में भौतिक सृष्टि कहलाती है ॥५३॥

भाष्यम्—**किञ्चान्यत्—तत्र** अष्टविकल्पो दैवः **दैवमष्टप्रकारं—प्राजापत्यं, सौम्यम्, ऐन्द्रं, गान्धर्वं, याक्षं,** राक्षसं, पैशाचमिति। **पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावराणि**

---

१. जैसे बीज पहिले हुआ या अङ्कुर ? क्योंकि बीज ही नहीं था तो अङ्कुर कहाँ से आया अङ्कुर ही नहीं था तो वृक्ष होकर बीज कैसे बना ? इस शंका का कोई समाधान नहीं हो सकता, फिर भी इसमें अन्योन्याश्रय दोष नहीं माना जाता। इसी प्रकार बुद्धि अनादि है, उसका संयोग भी अनादि है तथा संसार का प्रवाह भी अनादि और अविच्छिन्न है, इसलिए धर्मादि भाव शरीर की अपेक्षा करते हैं ? या शरीर धर्मादि भावों की अपेक्षा करता है ? यह प्रश्न ही नहीं उठता। अतः अन्योन्याश्रय दोष रहते हुए भी नहीं माना जाता।

भूतान्येवं पञ्चविधस्तैरश्चः। **मानुषयोनिरेकैव**। इति चतुर्दश १४ भूतानि ॥५३॥

भाष्यानु—और भी अष्ट० दैवसर्ग (देवयोनि) आठ प्रकार का होता है—ब्राह्म, प्राजापत्य, सौम्य, ऐन्द्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस और पैशाच। तैर्यग्यो० तिर्यक्योनिवाला—पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप और स्थावर सर्ग रूप पाँच प्रकार का होता है। मानुष्यश्चैकविधः मनुष्ययोनि एक[1] ही है। समासतो भौतिकः सर्गः संक्षेप में यही चौदह प्रकार का भौतिक (पञ्चभूतमय) सर्ग है।

[सात्त्विकादि सृष्टियाँ]

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥ ५४ ॥

अन्वय—**सर्गः, ऊर्ध्वं, सत्त्वविशालः, मूलतः, तमोविशालश्च, मध्ये, रजोविशालः, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः।**

अर्थ—सृष्टि ऊपर (देवलोक में अर्थात् दैव सर्ग) सत्त्वगुणप्रधान होता है, मूल (अधोलोक में अर्थात् तिर्यक् सृष्टि) तमोगुणप्रधान तथा मध्य में (मानुष सृष्टि) रजोगुण प्रधान होती है। यही ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त सृष्टि की स्थिति है ॥ ५४ ॥

भाष्यम्—**त्रिष्वपि लोकेषु गुणत्रयमस्ति, तत्र कस्मिन् किमधिकमित्युच्यते—** ऊर्ध्वमिति। **अष्टसु देवस्थानेषु** सत्त्वविशालः = **सत्त्वविस्तारः, सत्त्वोत्कर्ष इति। तत्रापि रजस्तमसी स्तः।** तमोविशालश्च मूलतः। **पश्वादिषु स्थावरान्तेषु सर्वः सर्गस्तमसाधिक्येन** व्याप्तः। **तत्रापि सत्त्वरजसी स्तः। मध्ये = मानुषे रज उत्कटम्। तत्रापि सत्त्वतमसी विद्येते। तस्माद् दुखःप्रायाः मनुष्याः। एवं** ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः। **ब्रह्मादिस्थावरान्तः इत्यर्थः। एवम्—अभौतिकः सर्गो = लिङ्गसर्गो, भावसर्गः।** भूतसर्गः = **देवमानुषतैर्यग्योना इति। एष प्रधानकृतः षोडशविधः ॥ ५४ ॥**

भाष्यानु०—तीनों लोक त्रिगुणात्मक हैं (किन्तु उनमें गुणों के न्यूनाधिक्य से विभिन्नता हो जाती है। (इसलिए—) किस लोक में कौन गुण अधिक है यह कहते हैं—ऊर्ध्वम् पूर्वोक्त आठों देवस्थानों में (ब्राह्म आदि योनियों में)

---

१. यद्यपि इसमें भी ब्राह्मणत्वादि अवान्तर जाति भेद हो सकते हैं किन्तु मनुष्यत्वेन एक ही माना जाता है।

सत्त्वविशालः सत्त्व गुण का विस्तार अधिक है अर्थात् उनमें सत्त्वगुण अधिक मात्रा में रहता है। यद्यपि उनमें भी रज तम रहते हैं। किन्तु न्यूनमात्रा में। तमो० पशु से लेकर स्थावर पर्यन्त (५ योनियों) में सारी सृष्टि तमोगुण से व्याप्त हैं (अर्थात् पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप और स्थावर योनियों में तमोगुण अधिक मात्रा में रहता है।) यद्यपि उनमें भी सत्त्व और रज रहते हैं किन्तु न्यूनमात्रा में। मध्ये० मानुष लोक में रजो गुण का विस्तार अधिक होता है। यद्यपि उनमें भी सत्त्व और तम होते हैं किन्तु न्यूनमात्रा में। इसीलिये मनुष्य प्रायः दुखी रहते हैं। (क्योंकि रजोगुण परिणाम दुःख है)। इस प्रकार **ब्रह्मादि०** ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त अर्थात् दैव से लेकर स्थावर योनि पर्यन्त (सृष्टि का वर्णन हुआ)। इस प्रकार लिङ्गसर्ग (तन्मात्रसर्ग) और **भावसर्ग अभौतिक** तथा दैव, तिर्यक् एवं मानुष सर्ग भौतिक सर्ग कहलाते हैं। यही प्रकृति द्वारा उत्पन्न सोलह [५ तन्मात्र + ८ भाव + ३ योनि = १६] प्रकार की सृष्टि हैं ॥५४॥

[दुःख का कारण]

तत्र जन्ममरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।
लिङ्गस्याऽऽविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥ ५५ ॥

अन्वय—**तत्र, लिङ्गस्य, आविनिवृत्तेः, चेतनः, पुरुषः जरामरणकृतं, दुःखं, प्राप्नोति, तस्मात्, दुःखं, स्वभावेन, (भवति) ।**

अर्थ—उन सृष्टियों में लिङ्ग-शरीर के मोक्ष पर्यन्त चेतन पुरुष जरा और मरण जन्य दुःख को प्राप्त करता है। अतः दुःख स्वभावतः होता है ॥५५॥

भाष्यम्—तत्रेति। **तेषु देवमानुषतिर्यग्योनिषु,** जराकृतं, मरणकृतं चैव दुःखं चेतनः = **चैतन्यवान्** पुरुषः प्राप्नोति, **न प्रधानं न बुद्धिर्नाहङ्कारो, न तन्मात्राणीन्द्रियाणि, महाभूतानि च। कियन्तं कालं पुरुषो दुःखं प्राप्नोतीति, तद्विविनक्ति**—लिङ्गस्याविनिवृत्तेरिति। **यत्तन्महदादिलिङ्गशरीरेणाविश्य तत्र व्यक्तीभवति, तद्यावन्न निवर्त्तते संसारशरीरमिति, तावत् संक्षेपेण त्रिषु स्थानेषु पुरुषो जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति।** लिङ्गस्याऽऽविनिवृत्तेः = **लिङ्गस्य विनिवृत्ति यावत्। लिङ्गनिवृत्तौ मोक्षो, मोक्षप्राप्तौ नास्ति दुःखमिति। तत् पुनः केन निवर्त्तते? यदा पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं स्यात् सत्त्वपुरुषान्यथाख्यातिलक्षणम्, 'इदं प्रधानमियं बुद्धिरयमहङ्कार इमानि पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि, पञ्च महाभूतानि एभ्योऽन्यः पुरुषो विसदृश' इत्येवंज्ञानाल्लिङ्गनिवृत्तिस्ततो मोक्ष इति ॥ ५५ ॥**

भाष्यानु०—तत्र = उन देव, तिर्यक्, मानुष योनियों में **जरा०** जराजन्य और मरणजन्य दुःख को **चेतन०** चैतन्यवान् पुरुष प्राप्त करता है। यह दुःख न तो प्रकृति को होता है, न बुद्धि को, न अहङ्कार को, न तन्मात्राओं को, न इन्द्रियों को, न महाभूतों को। अब 'कितने समय तक वह पुरुष दुःख भोगता है' इसका विवेचन करते हैं—**लिङ्गस्या०** यह जो महदादि लिङ्ग शरीर से प्रवेश करके उस स्थूल शरीर में व्यक्त होता है वह जब तक निवृत्त नहीं हो जाता[1]। लिङ्ग की आविनिवृत्ति का अर्थ है सूक्ष्म शरीर की निवृत्ति पर्यन्त। सूक्ष्म की निवृत्ति होने पर तो मोअ हो जाता है। और मोक्ष होनेपर दुःख नहीं रह जाता। (प्रश्न—) वह सूक्ष्म शरीर कैसे निवृत्त होता है? (उत्तर) जब २५ तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है, जिसे कि सत्त्वपुरुषान्यथाख्याति रूप कहा जाता है, तब वह निवृत्त होता है। 'यह प्रधान है, यह बुद्धि है, यह अहङ्कार है, ये ५ तन्मात्र हैं, ये ११ इन्द्रियाँ हैं, ये ५ महाभूत हैं जिनसे असदृश और अन्य यह पुरुष है' ऐसे ज्ञान से लिङ्गशरीर की निवृत्ति होती है और तब मोक्ष होता है ॥५५॥

[पुरुषार्थ प्रकृतिसर्ग]

इत्येष प्रकृतिकृतौ महदादिविशेषभूतपर्यन्तः।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः॥ ५६॥

अन्वय—**इत्येष, प्रकृतिकृतौ, महदादिविशेषभूतपर्यन्तः, प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं, स्वार्थं, इव, परार्थः, आरम्भः।**

अर्थ—इस प्रकार यह प्रकृतिद्वारा किया गया सृष्टि का आरम्भ, जो कि महत् (बुद्धि) से लेकर पंचमहाभूत पर्यन्त है, वह प्रत्येक पुरुष का मोक्ष करने के लिये अपने कार्य की तरह दूसरे का कार्य (अर्थात् पुरुष के मोक्ष के लिये प्रकृतिद्वारा सृष्टि का आरम्भ) है ॥६५॥

भाष्यम्—प्रकृतेः किंनिमित्तश्चारम्भ इत्युच्यते—'इत्येष' परिसमाप्तौ निर्देशे च। प्रकृतिकृतौ = **प्रकृतिकरणे, प्रकृतिविक्रियायां, य आरम्भोमहदादिविशेष-भूतपर्यन्तः 'प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारस्तस्मात् तन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि,**

---

१. अर्थात् जब तक सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर में प्रवेश करता रहता है तब तक पुरुष तीनों योनियों में जरामरणजन्य दुःख भोगता रहता है। जब वह निवृत्त हो जाता है अर्थात् स्थूलशरीर में प्रवेश करना बन्द हो जाता है तब पुरुष दुःख से निवृत्त हो जाता है।

तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानी'त्येव, प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं = पुरुषं प्रति देवमनुष्य-तिर्यग्भावं गतानां विमोक्षार्थमारम्भः। कथम्? स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः। यथा कश्चित् स्वार्थं त्यक्त्वा मित्रकार्याणि करोति, एवं प्रधानम्। पुरुषोऽत्र प्रधानस्य न किञ्चित् प्रत्युपकारं करोति। स्वार्थ इव। न च स्वार्थः, परार्थं एव। अर्थः = शब्दादिविषयोपलब्धिर्गुणपुरुषान्तरोपलब्धिश्च। 'त्रिषु लोकेषु शब्दादिविषयैः पुरुषा योजयितव्याः, अन्ते च मोक्षेणे'ति प्रधानस्य प्रवृत्तिः। तथा चोक्तम्— कुम्भवत् प्रधानं, पुरुषार्थं कृत्वा निवर्त्तते' इति ॥ ५६ ॥

भाष्यानु०—(अब प्रश्न होता है कि) प्रकृति किस प्रयोजन से इस प्रपंच को प्रारम्भ करती है ? इस पर कहते हैं—इत्येष (इस प्रकार यह)। 'इत्येष' पद परिसमाप्ति और निर्देश का सूचक है[1] प्रकृतिकृतौ = प्रकृति द्वारा की गई सर्गरूप क्रिया में जो आरम्भ है वह, महदा० प्रकृति से महान्, महान् से अहङ्कार, अहङ्कार से तन्मात्र और ११ इन्द्रियाँ, तन्मात्र से पंचमहाभूत, यह इस प्रकार का प्रपंच। प्रति० देव मनुष्य और तिर्यक्योनि में प्राप्त प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिए प्रकृति यह आरम्भ करती है। कैसे ? स्वार्थइव जैसे कोई अपने कार्य को छोड़कर मित्रकार्य करने लगता है उसी प्रकार प्रकृति अपने किसी प्रयोजन की अपेक्षा न करती हुई पुरुष के मोक्ष के लिये यह सब करती है। इस उपकार के बदले पुरुष प्रकृति का कोई प्रत्युपकार नहीं करता। यहाँ स्वार्थ इव (स्वार्थ की तरह) कहा है, इसका तात्पर्य है पुरुष का मोक्ष भी प्रकृति का अपना प्रयोजन नहीं है। 'अर्थः' अर्थात् शब्दादि विषयों की उपलब्धि और गुणपुरुषान्तर की उपलब्धि। "तीनों लोकों में शब्दादि विषयों के साथ पुरुषों को मिलाना चाहिये और अन्त में उनका मोक्ष करवा देना चाहिये" यह सोचकर ही प्रकृति प्रवृत्त होती है। इसलिये कहा है—घड़े की तरह प्रधान भी पुरुषार्थ करके निवृत्त हो जाता है[2] ॥ ५६ ॥

---

१. तात्पर्य यह है कि इससे पूर्व की कारिकाओं में जो १६ प्रकार की सृष्टि का वर्णन किया गया है और उससे पुरुष को जरामरणजन्य दुःख की प्राप्ति कही गई है वह सब 'इति' पद से कहा गया है, जिससे इस प्रकारण की परिसमाप्ति सूचित होती है और 'एष' पद से आगे के प्रकरण का निर्देश किया गया है।

२. जैसे घड़ा कुएँ से पानी लाकर मनुष्यों की प्यास बुझाता है और रीता होने पर पुनः कुएँ में जाता है, इस प्रकार बार-बार पानी से भरा जाकर मनुष्यों की तृप्ति करता है किन्तु उससे उसका अपना कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, इसी

[जड़ प्रधान की प्रवृत्ति में उदाहरण]

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥ ५७॥

अन्वय—**यथा, अज्ञस्य क्षीरस्य, प्रवृत्तिः, वत्सविवृद्धिनिमित्तं, तथा प्रधानस्य, प्रवृत्तिः, पुरुषविमोक्षनिमित्तं (भवति)।**

अर्थ—जैसे जड़ होने पर भी दूध की प्रवृत्ति बछड़े के शरीर को बढ़ाने = पुष्ट करने में निमित्त होती है, ऐसे ही यद्यपि प्रधान भी जड़ है किन्तु उसकी प्रवृत्ति पुरुष के मोक्ष के लिये होती है।

भाष्यम्—अत्रोच्यते-अचेतनं प्रधानं चेतनः पुरुष इति-'मया त्रिषु लोकेषु शब्दादिभिर्विषयैः पुरुषो योज्योऽन्ते मोक्षः कर्तव्य' इति कथं चेतनवत् प्रवृत्तिः ? सत्यं। किन्त्वचेतनानामपि प्रवृत्तिर्दृष्टा, निवृत्तिश्च यस्मादित्याह। यथा तृणोदकं गवा भक्षितं क्षीरभावेन परिणम्य वत्सविवृद्धिं करोति, पुष्टे च वत्से निवर्त्तते, एवं पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रधानस्येति, अज्ञस्य प्रवृत्तिरिति॥ ५७॥

भाष्यानु०—इस पर प्रश्न होता है—प्रधान तो अचेतन है और पुरुष चेतन है, "मुझे तीनों लोकों में शब्दादि विषयों से पुरुष को संयुक्त करना चाहिये और अन्त में इसका मोक्ष करना चाहिये" ऐसी चेतनवत् प्रवृत्ति प्रधान की कैसे होती है ? (उत्तर—) यह ठीक है। किन्तु अचेतनों की भी प्रवृत्ति और निवृत्ति देखी जाती है। इसी को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—वत्सविवृद्धि० जैसे गाय का खाया हुआ घास, जल इत्यादि दूध रूप में परिणत होकर बछड़े के शरीर को पुष्ट करने लगता है और बछड़े के पुष्ट हो जाने पर स्वयं निवृत्त हो जाता है, इसी प्रकार अज्ञ (जड़) प्रधान भी पुरुष को मोक्ष के लिये प्रवृत्त होता है (और मोक्ष होने पर निवृत्त हो जाता है)॥ ५७॥

[पुरुष के मोक्ष के लिये प्रकृति की प्रवृत्ति]

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्॥ ५८॥

अन्वय—**यथा, लोकः, औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं, क्रियासु प्रवर्तते, तद्वत्, अव्यक्तं पुरुषस्य, विमोक्षार्थं, प्रवर्तते।**

प्रकार प्रकृति भी पुरुष को पहले शब्दादि विषयों से संयुक्त करती है और फिर **उसके मोक्ष का प्रयास करती है, इसमें उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं है।**

अर्थ—जैसे लोग उत्कण्ठा की निवृत्ति के लिये कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, ऐसे ही अव्यक्त (प्रधान) भी पुरुष के मोक्ष के लिये प्रवृत्त होता है।

भाष्यम्—**किञ्च-यथा लोक इष्टौत्सुक्ये सति तस्य** निवृत्त्यर्थं क्रियासु प्रवर्तते **गमनाऽऽगमनक्रियासु, कृतकार्यो निवर्त्तते, तथा पुरुषस्य** विमोक्षार्थं—**शब्दादिविषयोपलब्धिलक्षणं, गुणपुरुषान्तरोपलब्धिलक्षणं च द्विविधमपि पुरुषार्थं कृत्वा, प्रधानं निवर्त्तते ॥ ५८ ॥**

भाष्यानु०—और, औत्सुक्य० जैसे लोक अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये नाना प्रकार की जाना-आना आदि क्रियाओं में प्रवृत्त होकर उस वस्तु को पाने के बाद उन क्रियाओं से निवृत्त हो जाता है तद्वत्० (उसी प्रकार पुरुष के मोक्ष के लिये प्रधान भी प्रवृत्त होता है और) शब्दादि विषयोपभोग प्राप्तिस्वरूप तथा गुणपुरुषोपलब्धिस्वरूप (अर्थात् भोग और अपवर्गरूप) द्विविधपुरुषार्थं को करके वह भी निवृत हो जाता है ॥५८॥

[प्रकृति की स्वयं निवृत्ति]

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्त्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य निवर्तते प्रकृतिः ॥ ५९ ॥

अन्वय—**यथा, नर्तकी, रङ्गस्य, दर्शयित्वा, नृत्यात्, निवर्तते, तथा, प्रकृतिः, पुरुषस्य, आत्मानं, प्रकाश्य, निवर्तते ।**

अर्थ—जैसे नर्तकी रङ्गमञ्च पर [अपना नाच] दिखाकर नृत्यसे लौट जाती है, ऐसे ही प्रकृति भी पुरुष के समक्ष अपने को दिखाकर निवृत्त हो जाती है।

भाष्यम्—**किञ्चान्यत्,—यथा** नर्तकी **शृङ्गारादिरसैः**रतिहासाविभावैश्च **निबद्धानि गीतवादित्रनृत्यानि** रङ्गस्य दर्शयित्वा **कृतकार्या** नृत्यान्निवर्त्तते, **तथा** प्रकृतिरपि पुरुषस्यात्मानं प्रकाश्य-**बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियमहाभूतभेदेन,** निवर्त्तते ॥ ५९ ॥

भाष्यानु०—और भी। जैसे नाचनेवाली शृङ्गारादि रसों से तथा रति-हासादि भावों से रचे हुए गीत, वाद्य और नृत्य रङ्गमञ्च में बैठे हुए सभासदों को दिखाकर अपना कार्य समाप्त समझकर, नृत्य से लौट जाती है उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुषस्य० पुरुषको अपनेको दिखाकर अर्थात् बुद्धि, अहङ्कार, तन्मात्र, इन्द्रिय और महाभूत रूपसे अपनेको प्रकट करके लौट जाती है ॥५९॥

[प्रकृति का निःस्वार्थ साधन]

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः ।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥ ६० ॥

अन्वय—**नानाविधैः, उपायैः, उपकारिणी, गुणवती, (प्रकृतिः) अनुपकारिणः, अगुणस्य, सतः, तस्य, पुंसः, अर्थम्, अपार्थकं, चरति ।**

अर्थ—नाना प्रकार के उपायों से उपकार करती हुई त्रिगुणात्मिका यह प्रकृति कुछ भी उपकार न करनेवाले, निर्गुण, नित्य, उस पुरुष के प्रयोजन को निःस्वार्थ होकर सिद्ध करती है ।

भाष्यम्—**कथं को वाऽस्याः निवर्त्तको हेतुः ?।** तदाह—नानाविधैरुपायैः **प्रकृतिः** पुरुषस्योपकारिणी, अनुपकारिणः पुंसः । कथम् ? **देवमानुषतिर्यग्भावेन सुखदुःखमोहात्मकभावेन,–एव** नानाविधैरुपायैरात्मानं **प्रकाश्य–'अहमन्या' 'त्वमन्य' इति,** निवर्त्तते । सतो **नित्यस्य,**–तस्यार्थमपार्थकं चरति = **कुरुते । यथा कश्चित् परोपकारी सर्वस्योपकुरुते,** नाऽऽत्मनः **प्रत्युपकारमीहते, एवं प्रकृतिः पुरुषार्थं चरति = करोत्यपार्थकम् । पश्चादुक्तमात्मानं प्रकाश्य निवर्त्तते ॥६०॥**

भाष्यानु०—(प्रश्न–) **कैसे अथवा** कौन इसकी निवृत्ति में हेतु है ? इस पर कहते हैं—नानाविधै० **देव, मनुष्य,** तिर्यग्योनि **रूप** से, सुख दुःख मोह रूप से, शब्दादि विषयरूप से, इस प्रकार नानाविध उपायों से उपकारिणी यह प्रकृति अनुपकारी उस पुरुष को अपना परिचय देकर अर्थात् 'मैं (तुमसे भिन्न हूँ) तुम (मुझसे भिन्न हो)' यह बताकर निवृत्त हो जाती है । गुणवत्य० गुणवती अर्थात् त्रिगुणात्मिका यह प्रकृति, अगुण, (निर्गुण) उस पुरुष का भोगापवर्गरूप प्रयोजन सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त रहती है । जैसे कोई परोपकारी व्यक्ति सबका उपकार करता है और बदले में किसी से कुछ नहीं चाहता, इसी प्रकार प्रकृति भी अनुपकारी पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध कर देती है और फिर अपने स्वरूप को प्रकट करके निवृत्त हो जाती है[1] ॥६०॥

---

१. पुरुष सत्त्व, रजः तम से रहित है अतः निर्गुण है । प्रकृति त्रिगुणात्मिका है अतः उसकी प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है । पुरुष अकर्त्ता, अभोक्ता और उदासीन है अतः उससे किसी उपकार या प्रत्युपकार की संभावना ही नहीं की जा सकती, प्रकृति उपकारिणी है इसलिये पुरुष के भोगापवर्ग के लिये वह सदा कार्य करती रहती है । इसमें उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं है ।

[प्रकृति की सुकुमारता]

'प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्ती'ति मे मतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ ६१ ॥

अन्वय—प्रकृतेः, सुकुमारतरं, किञ्चित्, न, अस्ति, इति, मे, मतिः भवति, या, दृष्टा, अस्मि, इति, पुनः, पुरुषस्य, दर्शनम्, न उपैति।

अर्थ—प्रकृति से अधिक सुकुमार कुछ नहीं है, ऐसा मैं समझता हूँ, जो कि (इस पुरुष ने एकबार) मुझे देख लिया है यह सोचकर पुनः उस पुरुष के सामने कभी नहीं जाती।

भाष्यम्—निवृत्ते च किं करोतीत्याह। लोके प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीत्येवं मे मतिर्भवति, येन परार्थ एव मतिरुत्पन्ना। कस्मात्?। अहमनेन पुरुषेण दृष्टास्मीत्यस्य पुंसः पुनर्दर्शनं नोपैति। पुरुषस्याऽदर्शन-मुपयातीत्यर्थः। तत्र सुकुमारतरं वर्णयति। केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते—

'अज्ञो जन्तुरनाशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं, नरकमेव वा'॥

अपरे स्वभावकारणिकां ब्रुवते—

'केन शुक्लीकृता हंसा, मयूराः केन चित्रिताः। स्वभावेनैव—' इति।

अत्र साङ्ख्याचार्या आहुः—निर्गुणत्वादीश्वरस्य कथं सगुणत प्रजा जायेरन्। कथं वा पुरुषान्निर्गुणादेव? तस्मात् प्रकृतेर्युज्यते। यथा शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्ल एव पटो भवति, कृष्णेभ्यः कृष्ण एव इति। एवं त्रिगुणात् प्रधानात् त्रयो लोकास्त्रिगुणाः समुत्पन्ना इति गम्यते। निर्गुण ईश्वरः, सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिर-युक्तेति। अनेन पुरुषो व्याख्यातः। तथा—केषाञ्चित् मते कालः कारणमिति। उक्तं च—

'कालः पचति भूतानि, कालः संहरते जगत्।
कालः सुप्तेषु जागर्त्ति, कालो हि दुरतिक्रमः॥

व्यक्ताऽव्यक्तपुरुषास्त्रयः पदार्थाः, तेन कालोऽन्तर्भूतोऽस्ति। स हि व्यक्तः, सर्वकर्तृत्वात्, कालस्यापि प्रधानमेव कारणम्। स्वभावोऽप्यत्रैव लीनः। तस्मात् कालो न कारणम्। नापि स्वभाव इति। तस्मात् प्रकृतिरेव कारणं, न प्रकृतेः कारणान्तरमस्तीति। न पुनर्दर्शनमुपयाति पुरुषस्य। अतः प्रकृतेः सुकुमारतरं = सुभोग्यतरं, न किञ्चिदीश्वरादि कारणमस्तीति मे मतिर्भवति। तथा च लोके रूढम् ॥६१॥

भाष्यामु०—(पुरुष का मोक्ष कराकर) निवृत्त होने के बाद क्या करती है ? यह कहते हैं–प्रकृते:० प्रकृति से अधिक सुकुमार और कोई नहीं है, ऐसा मैं समझता हूँ। जिससे दूसरे के विषय में ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई है। कैसे ? या दृष्टास्मीति "मैं इस पुरुष के द्वारा देखी गई हूँ" यह सोचकर जो फिर पुरुष के सामने नहीं जाती अर्थात् फिर पुरुष के लिये वह लुप्त हो जाती है[1]। प्रकृति की सुकुमारतरता का वर्णन करते हैं—कुछ लोग ईश्वर को सृष्टि के निर्माण में कारण मानते हैं। जैसे "यह जन्तु अर्थात् जीव, अज्ञ है और अपने सुखदुःख को भोगने में स्वयं असमर्थ है। ईश्वर के द्वारा प्रेरित हुआ ही स्वर्ग या नरक में जाता है (यह स्वेच्छया कहीं नहीं जा सकता)।" दूसरे लोग जो कि स्वभाव को कारण मानते हैं—"इन हंसों को श्वेत किसने किया और मोरों को रंगविरंगा किसने किया ? यह सब स्वभाव से ही ऐसा हो जाता है, इसका कोई कर्त्ता नहीं है।" इस पर सांख्याचार्यों का कहना है कि ईश्वर तो निर्गुण है। उससे सत्त्वादि गुणवाली प्रजाओं की उत्पत्ति कैसे होगी ? (इसलिये ईश्वर कारण नहीं हो सकता) इसी प्रकार निर्गुण पुरुष से सगुण महदादि कार्यसमूह कैसे उत्पन्न होगा ? (अतः स्वभाव भी कारण नहीं)। प्रकृति से यह सब हो सकता है। जैसे सफेद तागों से सफेद ही कपड़ा बनेगा और कालेसे काला ही, इसी प्रकार त्रिगुणात्मक प्रधानसे त्रिगुणात्मक तीनों लोक उत्पन्न होते हैं। चूँकि ईश्वर निर्गुण है अतः उससे सगुण संसार कैसे उत्पन्न होगा ? इससे पुरुष की व्याख्या हो गई[2]। तथा किसीके मतमें काल (समय) ही इस जगत् का कारण है।

१. ५९वीं कारिका में बताया था कि जैसे नर्तकी सभासदों को नृत्यादि दिखाकर लौट जाती है वैसे ही प्रकृति भी पुरुष को अपने स्वरूप का परिचय कराकर निवृत्त हो जाती है यहां यह प्रश्न हो सकता है कि जैसे सभासदों को प्रसन्न करके निवृत्त हुई नर्तकी धनादि के लोभ से पुनः (रंगमंचपर) आ सकती है वैसे ही निवृत्त हुई प्रकृति भी पुनः मुक्त हुए पुरुष के लिये सर्गनिर्माण कर सकती है ? इसका समाधान इस कारिका में किया गया है—प्रकृति इतनी सुकुमार है कि वह लज्जाशील कुलवधू की तरह एकबार पुरुष के सामने आनेपर "इसने मुझे देख लिया है" यह सोचकर शर्म के मारे पुनः उसके पास नहीं जाती, सदा के लिये उससे निवृत्त हो जाती है।

२. अर्थात् प्रकृतिकारणतावाद की स्थापना करके ईश्वर और आत्म-कारणतावाद का निराकरण हो गया।

जैसे कहा है—"काल ही प्राणियों को अवस्थान्तर में परिणत करता हैं काल ही जगत् का संहार करता है। जब सब सो जाते हैं (अर्थात् प्रलय काल में) तब भी काल जागता रहता है। इसलिये काल अनुल्लङ्घनीय है।" (काल भी कारण नहीं है इसका समाधान करते हैं—) व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष, ये तीन पदार्थ हैं। काल का भी इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। क्योंकि सबका कर्त्ता होने के कारण काल भी तो व्यक्त ही है। काल का भी कारण प्रकृति ही है। स्वभाव भी इसी में निहित हो जाता है। इसलिये न तो काल कारण हैं और न स्वभाव, प्रत्युत प्रकृति ही कारण है। प्रकृति से अतिरिक्त दूसरा कारण हो नहीं सकता। वह फिर (मुक्त करने के बाद) पुरुष के सामने नहीं आती, इसलिये प्रकृति से अधिक सुकुमार अर्थात् अत्यन्त भोग्य और कोई भी ईश्वरादि कारण नहीं है, ऐसा मेरी समझ में आता है और ऐसा ही लोक में प्रसिद्ध है ॥ ६१ ॥

[बन्ध और मोक्ष प्रकृति के होते हैं पुरुष नहीं]

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा, न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति, बध्यते, मुच्यते च नानाऽऽश्रया प्रकृतिः ॥ ६२ ॥

अन्वय—तस्मात्, अद्धा न बध्यते, न मुच्यते, नापि, कश्चित्, संसरति नानाश्रया, प्रकृतिः संसरति, बध्यते, मुच्यते च।

अर्थ—इसलिए पुरुष कभी भी न तो बंधता है, न मुक्त होता है और न कभी संसरण (जन्ममरण) करता है, विभिन्न रूपों से प्रकृति ही संसरण करती है, बँधती है और मुक्त होती है।

भाष्यम्—'पुरुषो मुक्तः' 'पुरुषः संसारी'ति नोदिते आह—तस्मात् कारणात्, पुरुषो न बध्यते, नापि मुच्यते, नापि संसरति, यस्मात् कारणात् प्रकृतिरेव नानाश्रया = दैवमानुषतिर्यग्योन्याश्रया बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूत-स्वरूपेण बध्यते, मुच्यते, संसरति चेति। अथ मुक्त एव स्वभावात् स सर्वगतश्च कथं संसरति ?। अप्राप्तप्रापणार्थं संसरणमिति तेन पुरुषो बध्यते, पुरुषो मुच्यते, पुरुष संसरतीति व्यपदिश्यते, येन संसारित्वं विद्यते। सत्त्वपुरुषान्तरज्ञानात्तत्त्वं पुरुषस्याऽभिव्यज्यते। तदभिव्यक्तौ केवलः, शुद्धः, मुक्तः, स्वरूपप्रतिष्ठ पुरुष इति। अथ यदि पुरुषस्य बन्धो नास्ति, ततो मोक्षोऽपि नास्ति ? अत्रोच्यते—प्रकृतिरेवा-त्मानं बध्नाति, मोचयति च, यत्र सूक्ष्मशरीरं तन्मात्रकं, त्रिविधकरणोपेतं तत् त्रिविधेन बन्धेन बध्यते। उक्तञ्च—

'प्राकृतेन च बन्धन, तथा वैकारिकेण च।
दक्षिणेन तृतीयेन बद्धो नान्येन मुच्यते'॥
तत् सूक्ष्मं धर्माऽधर्मसंयुक्तम् । ६२ ॥

भाष्यानु०—"पुरुष मुक्त है, पुरुष संसारी" ऐसा व्यवहार कैसे होगा ?[१] तस्मात् उसी कारण से पुरुष न बध्यते० न बंधता है, न मुक्त होता है, न संसरण करता है। क्योंकि प्रकृति ही नाना आश्रयोंवाली होकर अर्थात् दैव, मनुष्य और तिर्यक् योनियों का आश्रय लेकर बुद्धि, अहंकार, तन्मात्र, इन्द्रिय और महाभूत स्वरूप से बद्ध होती है, मुक्त होती है और संसार में आवागमन करती है। अब स्वभाव से ही मुक्त और सर्वगत (सर्वत्र व्याप्त) वह पुरुष कैसे संसरण करता है ? (उत्तर—)[२] अप्राप्तप्रापण के लिए उसका संसरण होता है इसलिए 'पुरुष बद्ध होता है, पुरुष मुक्त होता है, पुरुष संसरण करता है' ऐसा व्यवहार होता है, जिससे पुरुष की संसारिता प्रतीत होती है। सत्त्व-पुरुषान्तर ज्ञान से (अर्थात् बुद्ध्यादि से अतिरिक्त पुरुष है, ऐसा ज्ञान हो जाने पर) पुरुष की वास्तविकता अभिव्यक्त होती है जिससे केवल शुद्ध, मुक्त, स्वरूप-मात्र में प्रतिष्ठित पुरुष है; ऐसा बोध होता है। (प्रश्न) तब तो जब पुरुष का बन्ध ही नहीं होता तो मोक्ष भी नहीं होगा ? (उत्तर—) इस पर कहते हैं—प्रकृति ही पुरुष को बद्ध और मुक्त करती है[३] (प्रश्न—) प्रकृति के संसर्ग से कहाँ

---

१. अर्थात् पुरुष यदि अगुण और अपरिणामी है तो उसे सुख-दुःखादि रूप बन्धन कैसे होगा ? जब बन्धन ही नहीं हुआ तो उसका मोक्ष कैसे संभव है ? क्योंकि जिसका बन्धन होगा उसी का मोक्ष हो सकता है, फिर ६० वीं कारिकामें "पुरुषस्य विमोक्षार्थं" जो कहा था वह कैसे चरितार्थ होगा ? इस शंका का समाधान करते हुए उपसंहार कहते हैं।

२. अर्थात् निःसङ्ग होने से अप्राप्त जो शब्दादि उपभोग, उसकी प्राप्ति के लिए बुद्धि आदि से भेद होने पर भी तद्गत संसरण आत्मा में प्रतीत होता है। बुद्धि आदि के बन्धन से आत्मा में आरोप किया जाता है।

३. आत्मा अकेला होने पर भी प्रकृति के संसर्ग से अभेदाग्रहमूलक बन्धन का अपने में आरोप कर लेता है और मुक्ति का भी। जैसे जय-पराजय तो सेना के सिपाहियों की होती है किन्तु चूँकि वे सिपाही राजा के आश्रित हैं और उस हार या जीत से होने वाले शोक या हर्ष स्वामी (उस राजा) को भी होते हैं, इसलिए राजा ही हार गया या जीत गया ऐसा व्यवहार होता है। इसी प्रकार प्रकृतिगत

वह अपने को बद्ध या मुक्त समझता है ? (उत्तर—) जिस योनिविशेष में महदादि त्रिविध करणोंवाला तन्मात्रक सूक्ष्म शरीर त्रिविध बन्धन से बद्ध होता है (उसी में वह आत्मा अपने को बद्ध समझता है) । जैसा कि कहा है— "प्राकृत बन्ध से तथा वैकारिक बन्ध से और तीसरे दक्षिण बन्ध से बद्ध हुआ किसी अन्य से मुक्त नहीं हो सकता' वह सूक्ष्म शरीर धर्म-अधर्म से संयुक्त होता है ॥६२॥

[प्रकृति के बन्ध-मोक्ष में हेतु]

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ ६३ ॥

अन्वय—**प्रकृतिः, सप्तभिः, एव, रूपैः, आत्मना, आत्मानं, बध्नाति, सा, एव, च, एकरूपेण, पुरुषार्थं, प्रति, विमोचयति ।**

अर्थ—प्रकृति सात ही रूपों (धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य) द्वारा अपने से ही अपने को बंधन में डालती है एक (ज्ञान) रूप से पुरुष के प्रयोजन के लिये मुक्त कर लेती है ।

भाष्यम्—'**प्रकृतिश्च बध्यते, प्रकृतिश्च मुच्यते, संसरती'ति कथम्** ? तदुच्यते—रूपैः सप्तभिरेव । **एतानि सप्त प्रोच्यन्ते—धर्मो, वैराग्यमैश्वर्यमधर्मोऽज्ञानमवैराग्यमनैश्वर्यम् । एतानि प्रकृतेः सप्त रूपाणि ।** तैरात्मानं = स्व बध्नाति **प्रकृतिः । आत्मना = स्वेनैव । सैव प्रकृतिः पुरुषस्यार्थः = पुरुषार्थः कर्त्तव्य' इति ।** विमोचयत्यात्मानमेकरूपेण = **ज्ञानेन ॥ ६३ ॥**

भाष्यानु०—(प्रश्न) प्रकृति बद्ध होती है, मुक्त होती है, संसरण करती है, कैसे ? (अर्थात् प्रकृतिगत बन्ध, संसार और अपवर्ग किन साधनों से होते हैं ?) (उत्तर—) वही कहा जाता है—रूपैः० सात रूपों से ही । ये सात कहे जाते हैं—धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य, ये सात प्रकृति के रूप हैं । इससे आत्मानं = अपने को प्रकृति बाँध लेती है । आत्मना अपने से ही सैव वही प्रकृति—पुरुषार्थ० पुरुष का अर्थ (प्रयोजन—भोगापवर्ग रूप) करना चाहिये, इस प्रकार अपने को मुक्त कर लेती है। एक अवशिष्ट रूप अर्थात् ज्ञान से[1] ॥ ६३ ॥

भोग और अपवर्ग का विवेकाग्रह से पुरुष के साथ सम्बन्ध होने से पुरुष बद्ध है, पुरुष मुक्त है, ऐसा व्यवहार होता है ।

१. तात्पर्य यह है कि भोगरूप पुरुषार्थ के प्रति धर्मादि सात भावों से अपने को बाँध लेती है और अपवर्गरूप पुरुषार्थ के प्रति केवल एक ज्ञानभाव से अपने को

[तत्त्वाभ्यास से ज्ञानोदय]

एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि, न मे, नाऽहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ।। ६४ ।।

अन्वय—**एवं तत्त्वाभ्यासात्, नास्मि, न मे, न अहम्, इति, अपरिशेषम्, अविपर्ययाद्, विशुद्धम्, केवलं, ज्ञानम्, उत्पद्यते ।**

अर्थ—इस प्रकार (२५) तत्त्वों के अभ्यास से मैं कर्ता नहीं हूँ, यह मेरा (भोग्य शरीर) नहीं हैं मैं (भोक्ता) नहीं हूँ, ऐसा निःसन्देहात्मक और मिथ्याज्ञान से रहित कैवल्य ज्ञान (केवल पुरुषमात्र का ज्ञान) उत्पन्न होता है ।

भाष्यम्—**कथं तज्ज्ञानमुत्पद्यते ? । एवमुक्तेन क्रमेण पञ्चविंशतितत्त्वालोचनाभ्यासात् ' इयं प्रकृतिः, अयं पुरुषः, एतानि पञ्चतन्मात्रेन्द्रियमहाभूतानी'ति पुरुषस्य ज्ञानमुत्पद्यते : नास्मि = नाहमेव भवामि । न–मे = मम शरीरं तत्, यतोऽहमन्यः, शरीरमन्यत् ।** नाहमित्यपरिशेषम्, **अहङ्काररहितम्** । अविपर्ययाद्विशुद्धम् । **विपर्ययः = संशयोऽविपर्ययादसंशयाद्विशुद्धं = केवलं, तदेवनान्यदस्तीति मोक्षकारणमुत्पद्यते = अभिव्यज्यते, ज्ञानं = पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं पुरुषस्येति ।।६४।।**

भाष्यानु०—(प्रश्न) वह ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है ? (उत्तर) एवं पूर्वोक्त प्रकार से २५ तत्त्वों के आलोचन रूप अभ्यास से अर्थात् यह-प्रकृति है, यह पुरुष है, ये पंचतन्मात्रा इन्द्रिय और महाभूत हैं, ऐसा पुरुष को ज्ञान उत्पन्न होता है । नास्मि में कर्त्ता नहीं हूँ, न मे यह मेरा भोग्य शरीर नहीं है । क्यों कि मैं भिन्न हूँ और शरीर भिन्न है[1] नाहम् मैं (अहङ्कार विशिष्ट) भोक्ता नहीं हूँ । इत्यपरिशेषम् इस प्रकार का अपरिशेष अर्थात् संशय अन्तिम अहङ्कार रहित अविपर्ययाद्विशुद्ध विपर्यय = संशय, अविपर्यय से अर्थात् असंशय से, विशुद्ध मिथ्याज्ञान रूप मल से रहित) केवल (= पुरुषमात्र गोचर) 'वह पुरुष ही केवल है । अन्य कुछ नहीं' ऐसा मोक्ष का कारणभूत ज्ञानं = पञ्चविंशति तत्त्वात्मक ज्ञान पुरुष को उत्पद्यते अभिव्यक्त होता है ।। ६४ ।।

संसार से मुक्त कर लेती है । इससे यह भी सूचित होता है कि वैराग्यादि के अभाव में भी केवल ज्ञान से मुक्ति संभव है ।

१. अभेद ज्ञानपर्यन्त ही मैं और मेरा शरीर ऐसी प्रतीति होती है, भेदज्ञान होने पर तो वह प्रतीति नष्ट हो जाती है ।

[ज्ञान से वास्तविक स्वरूपदर्शन]

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः ।। ६५ ।।

अन्वय—**तेन, प्रेक्षकवदस्थितः, स्वस्थः, पुरुषः, निवृत्तप्रसवाम्, अर्थवशात्, सप्तरूपविनिवृत्ताम्, प्रकृतिं, पश्यति ।**

अर्थ—उस तत्त्वज्ञान के कारण रङ्गमञ्च के दर्शक की भाँति स्थित और आत्ममात्र निष्ठ पुरुष, जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया है और जो प्रयोजनवशात् धर्मादि सात भावों से निवृत्त हो चुकी है ऐसी प्रकृति को देखता है ।

भाष्यम्—**ज्ञाने पुरुषः किं करोति ? तेन = विशुद्धेन केवलज्ञानेन,** पुरुषः प्रकृतिं पश्यति, प्रेक्षकवत् **प्रेक्षकेण तुल्यम्** । अवस्थितः स्वस्थः । यथा रङ्ग-**प्रेक्षकोऽवस्थितो नर्तकीं पश्यति, स्वस्थः-स्वस्मिंस्तिष्ठति** स्वस्थ = **स्वस्थानस्थितः । कथंभूतां प्रकृतिम्** ? निवृत्त प्रसवां = **निवृत्तबुद्ध्यहङ्कारकार्याम् ।** अर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्तां, **निर्वर्त्तितपुरुषोभयप्रयोजनवशाद्, यैः सप्तभीरूपैर्धर्मादिभि-रात्मानं बध्नाति, तेभ्यः** सप्तभ्यो रूपेभ्यो विनिवृत्तां **प्रकृतिं प्रश्यति ।। ६५ ।।**

भाष्यानु०—(प्रश्न) ज्ञान होने पर पुरुष क्या करता है ? (उत्तर) उस विशुद्ध केवल ज्ञान से पुरुष० जैसे नाटक देखनेवाला सभासद नर्तकी को देखता है ऐसे ही पुरुष एक दर्शक की तरह प्रकृति को देखता है । स्वस्थ का अर्थ है (स्वमिन् तिष्ठति इस विग्रह के अनुसार) अपने स्थान पर ही स्थित हुआ । (प्रश्न)–कैसी प्रकृति को देखता हैं ? (उत्तर)–निवृत्तप्रसवा बुद्धि और अहङ्कार के कार्यों से निवृत्त हुई[1] अथ० पुरुष के भोगापवर्गरूप प्रयोजन संपादित कर देने से जिन धर्माधर्मादि सात रूपों से अपने को बाँध लेती है उन सात रूपों से विनिवृत्त हुई प्रकृति को वह देखता है ।।६५।।'

(प्रश्न—प्रकृति-पुरुष के संयोग से ही सर्गोत्पत्ति होती है । प्रकृति का जड़स्वरूप भोग्यत्वयोग्यता तथा पुरुष का चेतनत्वरूप भोक्तृत्वयोग्यता ही इनका संयोग है । इस संयोग की निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि इनका जड़त्व और चेतनत्व निवृत्त नहीं होता हैं प्रकृति-पुरुष दोनों नित्य हैं अतः उनका संयोग

---

१. तात्पर्य यह है कि भोग और विवेक साक्षात्कार, ये दो कार्य ही प्रकृति को उत्पन्न करने हैं, ये दोनों जब उत्पन्न कर लिए तो अब शेष कुछ रह ही नहीं जाता जिसे वह उत्पन्न करे । अतः निवृत्तप्रसवां कहा है ।

भी नित्य होगा तब सर्गोत्पत्ति भी अश्वयंभाविनी होगी। तब यह कैसे कहा कि 'निवृत्तप्रसवा प्रकृति को पुरुष देखता है' ? इस प्रश्न का उत्तर इस कारिका से देते हैं—)

[प्रकृतिसाक्षात्कार से सर्गनिवृत्ति]

[1]रङ्गस्थ इत्युपेक्षक एको, दृष्टाऽहमित्युपरमत्येका।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य॥ ६६॥

अन्वय—रङ्गस्थः इति, उपेक्षकः एकः, दृष्टा, अहम्, इति, एका, उपरमति, तयोः संयोगे, सत्यपि, प्रयोजनम्, नास्ति।

अर्थ—(मैं तो) "रङ्गमञ्च पर स्थित (दर्शक) की भाँति हूँ" ऐसा सोचकर एक (पुरुष) उपेक्षा (प्रकृति की) कर देता है। "मैं इस (पुरुष) के द्वारा देखी जा चुकी" यह सोचकर प्रकृति शान्त हो जाती है। इसके बाद उन दोनों का संयोग होने पर भी कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

भाष्यम्—रङ्गस्थ इति। **यथा रङ्गस्थ इत्येवमुपेक्षकः,** एकः = **केवलः** शुद्धः पुरुषस्तेनाहं दृष्टेति कृत्वा उपरता = निवृत्ता एका = एकैव प्रकृतिः, त्रैलोक्यस्यापि प्रधानकारणभूता न द्वितीया प्रकृतिरस्ति, मूर्तिवद्ये जातिभेदात्। एवं प्रकृतिपुरुषयोर्निवृत्तावपि व्यापकत्वात् संयोगोऽस्ति, न तु संयोगात् कृतः सर्गो भवति सति संयोगेऽपि तयोः = प्रकृतिपुरुषयोः सर्वगत्वात् सत्यपि संयोगे, प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य—सृष्टेः चरितार्थत्वात्। प्रकृतेर्द्विविधं प्रयोजनं शब्दविषयोपलब्धिर्गुणपुरुषान्तरोपलब्धिश्च। उभयत्रापि चरितार्थत्वात्—सर्गस्य नास्ति प्रयोजनं येन पुनः सर्ग इति। यथा दानग्रहणनिमित्ते--उत्तमर्णाधमर्णयोर्द्रव्यविशुद्धौ सत्यपि संयोगे न कश्चिदर्थसम्बन्धो भवति। एवं प्रकृतिपुरुषयोरपि नास्ति प्रयोजनमिति॥ ६६॥

भाष्यानु०—नाटचशाला में स्थित पुरुष की तरह केवल शुद्ध पुरुष उसकी उपेक्षा करता है।[2] दृष्टाह० उस पुरुष से मैं देखी गई हूँ, यह

---

१. 'दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको, दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या" यही पाठ प्रायः सभी पुस्तकों तथा टीकाकारों में प्रचलित है।

२. अर्थात् रङ्गभूमि में स्थित सभासद जैसे नर्तकी को एक बार देखकर पुनः "मैं तो इसे देख चुका" यह कहकर उसकी उपेक्षा कर देता है, उसी प्रकार पुरुष भी "यह प्रकृति मुझ से भिन्न है, इसके सम्पर्क से मैं बँध जाता हूँ और इसे मैं

जानकर प्रकृति निवृत्त होती है। एक अर्थात् एकमात्र प्रकृति। क्योंकि तीनों लोकों की प्रधान कारणभूत एक ही प्रकृति है दूसरी नहीं। आकृति हनन में भेद होने से[1]। इसलिए प्रकृति और पुरुष के निवृत्त हो जाने पर भी संयोग तो होता ही है क्योंकि दोनों नित्य और व्यापक हैं किन्तु उस संयोग से सर्ग नहीं होता। (इसी को कारिका में स्पष्ट करते हैं—) सति० प्रकृति और पुरुष के व्यापक होने से संयोग होने पर भी, प्रयो० सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। क्योंकि सृष्टि चरितार्थ हो चुकी। (इसी चरितार्थता को स्पष्ट करते हैं—) प्रकृति के दो प्रकार के प्रयोजन हैं—शब्दादिविषयोपलब्धि (भोग) और गुणपुरुषान्तरोपलब्धि (अपवर्ग)। ये दोनों जब हो गये तब सर्ग की आवश्यकता ही क्या रह जाती है। (संयोग होता है तो सर्ग भी होना चाहिये?) जैसे देने-लेने के लिए उत्तमर्ण (साहूकार) और अधमर्ण (ऋणी) दोनों मिलते हैं द्रव्य का लेन-देन हो जानेपर फिर यदि वे मिलें भी तो कोई अर्थसम्बन्ध उनका नहीं रह जाता। इसी प्रकार प्रकृति पुरुष भी मिलते हैं, पर सर्ग-सम्बन्ध नहीं होता॥ ६६॥

[सम्यग्ज्ञान से जीवन्मुक्ति]

सम्यग् ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमवद् धृतशरीरः॥ ६७॥

अन्वय—**सम्यग्ज्ञानाधिगमात्, धर्मादीनाम्, अकारणप्राप्तौ, संस्कारवशात्, चक्रभ्रमवत्, धृतशरीरः, तिष्ठति।**

अर्थ—अच्छी प्रकार ज्ञान उत्पन्न हो जाने से धर्म आदि (सात भावों) के असमर्थ होने पर संस्कारवशात् चाक के घुमाव की तरह योगी शरीर को धारण किये रहता है।

जान गया" यह समझकर उसकी उपेक्षा कर देता है अर्थात् उसके भोगादि **आवेश** से रहित हो जाता है।

१. प्रकृति एक ही है द्वितीय नहीं। इसमें हेतु है "मूर्तिवधे जातिभेदात्" **अर्थात्** प्रकृति का जात्या भेद स्वीकार करने पर मूर्तिनाश हेतु होता है जो **परिणामवाद** में असम्भव है।

भाष्यम्—यदि पुरुषस्योत्पन्ने ज्ञाने मोक्षो भवति, ततो मम कस्मान्न भवतीत्यत उच्यते। यद्यपि पञ्चविंशतितत्त्वज्ञानं भवति, तथापि संस्कारवशाद्धृतशरीरो योगी तिष्ठति। कथम्? चक्रभ्रमवत् = चक्रभ्रमेण तुल्यम्। यथा कुलालश्चक्रं भ्रमयित्वा घटं करोति मृत्पिण्डं चक्रमारोप्य, पुनः कृत्वा घटं पर्यमुञ्चति चक्रं भ्रमत्येव, संस्कारवशात्, एवं–सम्यग्ज्ञानाधिगमात्–उत्पन्नसम्यग्ज्ञानस्य धर्मादीनामकारणप्राप्तौ। एतानि सप्तरूपाणि बन्धनभूतानि सम्यग्ज्ञानेन दग्धानि। यथा नाग्निना दग्धानि बीजानि प्ररोहणसमर्थानि, एवमेतानि धर्मादीनि बन्धनानि न समर्थानि। धर्मादीनामकारणप्राप्तौ संस्कारवशाद्धृतशरीरस्तिष्ठति ज्ञानाद्वर्त्तमानधर्माऽधर्मक्षयः कस्मान्न भवति? वर्तमानत्वादेव क्षणान्तरे क्षयमत्येति। ज्ञानं त्वनागतं कर्म दहति, वर्त्तमान शरीरेण च यत् करोति तदपीति, विहितानुष्ठानकरणादिति, संस्कारक्षयाच्छरीरपाते मोक्षः॥ ६७॥

भाष्यानु०—यदि पुरुष को ज्ञान उत्पन्न होनेपर मोक्ष हो जाता है तो हमको भी ज्ञान होनेपर मोक्ष क्यों नहीं हो जाता? (अर्थात् ज्ञान होनेपर आत्मा का मोक्ष होता है तो शरीर का भी मोक्ष हो जाना चाहिए?) इसपर कहते हैं—यद्यपि २५ तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है तथापि संस्कारदशात् योगी शरीर धारण किये रहता है, शरीर का मोक्ष नहीं होता। कैसे? चक्र० चक्रभ्रम के समान। जैसे–कुलाल चाक घुमाकर घड़ा बनाता है। मिट्टी का पिण्ड उसपर रखता है, चाक घूमता जाता है वह मिट्टी को घड़े के आकार में सहलाता रहता है। घड़ा बन जाने पर उसे तो उतार लेता है किन्तु चाक फ़िर भी घूमता ही रहता है। क्योंकि, उसके घूमने का संस्कार अभी बना है। इसी प्रकार सम्यग्० अच्छी प्रकार ज्ञान उत्पन्न हो जाने से **धर्मा०** ज्ञान को छोड़कर धर्माधर्मादि सात भाव, जोकि बन्धनभूत थे, सम्यक् ज्ञान से दग्ध हो जाते हैं। जैसे अग्नि से जलाये हुए बीज उगने में असमर्थ होते हैं ऐसे ही ये धर्मादि भी फिर बन्धन में असमर्थ हो जाते हैं। चूंकि अब ये धर्मादि निष्प्रयोजन होते हैं इसलिए केवल संस्कारवशात् योगी शरीर धारण किये रहता है। (प्रश्न–) ज्ञान से वर्तमान धर्माधर्मादि का क्षय क्यों नहीं होता? (उत्तर–) **क्योंकि वे** कर्म वर्तमान होते हैं (अर्थात् उसी शरीर से तत्काल किये जाते हैं) **प्रारब्ध का**

नाश होनेपर तो उनका भी नाश हो जाता है। ज्ञात तो आगे किये जानेवाले कर्मों का नाश करता है, वर्तमान शरीर से जो कर्म किये जाते हैं वे तो प्रारब्ध के अनुसार होते हैं और प्रारब्ध कर्मों का भोग किये बिना क्षय नहीं होता, भोग विना शरीर के नहीं किया जा सकता। इसलिए इसी शरीर से वह सम्पूर्ण प्रारब्धों का नाश कर लेता है। ज्ञान हो जानेसे वह अविहित कर्म नहीं करता इसलिये आगे शरीर-धारण की संभावना नहीं रह जाती। संस्कारों का क्षय होने पर शरीर का भी मोक्ष हो जाता हैं॥ ६७॥

[प्रधान के निवृत्त होनेपर पुरुष को कैवल्यप्राप्ति]

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति॥ ६८॥

अन्वय—शरीरभेदे, प्राप्ते, चरितार्थत्वात्, प्रधानविनिवृत्तौ, (पुरुषः) ऐकान्तिकम्, आत्यन्तिकम्, उभयं. कैवल्यम्, आप्नोति।

अर्थ—शरीरान्तर प्राप्त करनेपर भी प्रयोजन सिद्ध होनेके कारण प्रधानके निवृत्त हो जाने पर पुरुष ऐकान्तिक (अवश्य होने वाले) और आत्यन्तिक =स्थायी (सदा रहनेवाले) दोनों प्रकारके कैवल्य को प्राप्त होता है॥ ६८॥

भाष्यम्—स किंविशिष्टो भवतीत्युच्यते। धर्माऽधर्मजनितसंस्कारक्षयात् प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानस्य विनिवृत्तौ ऐकान्तिकम् = अवश्यम्, आत्यन्तिकम् = अन्तरहितं, कैवल्यम् = केवलभावान्मोक्षः। उभयम् = ऐकान्तिकात्यन्तिकमित्येवं विशिष्टं कैवल्यमाप्नोति॥ ६८॥

भाष्यानु०—(प्रश्न) उसकी क्या विशेषता होती है? (उत्तर) धर्माधर्म-जनित संस्कारों का क्षय होने से प्राप्ते० शरीरान्तर प्राप्त करनेपर भी प्रधानके निवृत्त होनेपर (क्योंकि वह चरितार्थ हो चुका है, उसने अपना कार्य कर लिया अतः वह पुरुष) ऐकान्तिक = अवश्य, आत्यन्तिक = अन्त रहित कैवल्य = केवल भाव अर्थात् मोक्षको उभयम् = ऐकान्तिक और आत्यन्तिक इस विशेषता

से युक्त कैवल्यको प्राप्त होता है[1] ॥ ६८ ॥

[फलस्तुति]

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥ ६९ ॥

अन्वय—**इदं, गुह्यं, पुरुषार्थज्ञानम्, परमर्षिणा, समाख्यातम्, यत्र, भूतानां, स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः, चिन्त्यन्ते ।**

अर्थ—यह गोपनीय (रहस्य रूप) पुरुषार्थज्ञान महर्षि (कपिल) द्वारा अच्छी प्रकार कहा गया है । जिसमें प्रकृति के विकार भूत पदार्थों की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलयका विचार किया गया है ॥ ६९ ॥

भाष्यम्—पुरुषार्थः = **मोक्षस्तदर्थं** ज्ञानमिदं, गुह्यं = **रहस्यं**, परमर्षिण = **श्रीकपिलर्षिणा** समाख्यातं = **सम्यगुक्तम्**, यत्र ज्ञाने भूतानां = **वैकारिकारिकाणां**, स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः = **अवस्थानाऽऽविर्भावतिरोभावाः**, चिन्त्यन्ते = **विचार्यन्ते, येषां विचारात् सम्यक् पञ्चविंशतितत्त्वविवेचनात्मिका सम्पद्यते संवित्तिरिति** ॥ ६९ ॥

भाष्यानु०—पुरुषार्थ० पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के निमित्त यह रहस्यपूर्ण ज्ञान (सांख्यशास्त्ररूप २५ तत्त्वों का विवेचन) श्री कपिलऋषि ने अच्छी प्रकार कहा है । यत्र० जिस (सांख्यरूप) ज्ञान में प्रकृतिविकारभूत जो पदार्थ हैं उनके स्थिति, आविर्भाव (उत्पन्न होना) तथा तिरोभाव (नाश हो जाना) विचार किये जाते हैं । जिनके विचारसे अच्छी प्रकार २५ तत्त्वोंका विवेचन रूप संवित्ति अर्थात् प्रकृतिपुरुषविवेकका साक्षात्कारात्मक अनुभव हो जाता है ॥ ६९ ॥

साङ्ख्यं कपिलमुनिना प्रोक्तं संसारविमुक्तिकारणं हि ।
तत्रेताः सप्ततिरार्याः भाष्यं चात्र गौडपादकृतम् ॥ १ ॥

---

१. तात्पर्य यह है कि भोग से प्रारब्धकर्मोंका नाश होनेपर बुद्धि आदि द्वारा जिसने भोग और अपवर्ग रूप कार्य किया है ऐसी प्रकृतिके ज्ञानी आत्मा से निवृत्त हो जानेपर, अवश्य होनेवाले तथा जिसमें फिर दूसरा दुःख उत्पन्न नहीं होता ऐसे दो प्रकार के कैवल्य = मोक्षको आत्मा प्राप्त करता है ।

"कपिलमुनि ने संसारकी विमुक्तिका कारणभूत सांख्यशास्त्र कहा था, जिसमें ये ७० कारिकाएं हैं और इनपर यह श्रीगौड़पादकृत भाष्य समाप्त होता है ॥"

एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय, तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥ ७० ॥

अन्वय—एतत्, पवित्रम्, अग्र्यं, मुनिः, अनुकम्पया, आसुरये, प्रददौ, आसुरिः, अपि, पंचशिखाय, तेन, च, तन्त्रं बहुधाकृतम् ।

अर्थ—इस परमपवित्र, सर्वश्रेष्ठ ज्ञानको भगवान् कपिलमुनिने कृपापूर्वक सर्व प्रथम आसुरि मुनिको दिया और आसुरिने भी अपने शिष्य पंचशिखाचार्यको दिया तथा उन्होंने इस शास्त्र की व्याख्या करके संसार में फैलाया ॥७०॥

शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥ ७१ ॥

अन्वय—शिष्यपरंपरया आगतम्, एतत्, सिद्धान्तम्, सम्यग्विज्ञाय, आर्यमतिना, ईश्वरकृष्णेन, आर्याभिः, संक्षिप्तम् ।

अर्थ—शिष्यपरम्परा से प्राप्त इस सांख्यशास्त्रज्ञान को श्रेष्ठबुद्धि वाले ईश्वरकृष्ण ने अच्छी प्रकार सिद्धान्त को समझकर संक्षेप करके आर्या छन्दों में निबद्ध किया है ॥ ७१ ॥

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः, परवादविवर्जिताश्चापि ॥ ७२ ॥

❀इति श्रीमदीश्वरकृष्णकृताः सांख्यकारिकाः ।❀

अर्थ—इन सत्तर कारिकाओं में जिन अर्थों का प्रतिपादन किया गया है वे ही अर्थ सम्पूर्ण*षष्टितन्त्र के हैं। (कलेवर बढ़ाने के लिये) आख्यायि-

---

*षष्टितन्त्र—"षष्टि पदार्थाः तन्यन्ते यस्मिन् शास्त्रे तत् षष्टितन्त्रम्" माठर के इस कथन के आधार पर षष्टितन्त्र सांख्यशास्त्र का ही पर्याय सिद्ध होता है। तत्त्वकौमुदीकार वाचस्पति मिश्र तथा चन्द्रिकाकार नारायण तीर्थ का

काए नहीं दी गई हैं और दूसरों के सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन भी छोड़ दिया गया है। [केवल सांख्याशास्त्र के सिद्धान्त सम्पूर्ण और संक्षिप्त मूलभूत दे दिये गये हैं] ॥ ७२ ॥

—:-०-:—

भी यही मत है। आधुनिक कई विद्वानों का कथन है कि पंचशिखाचार्य ने एक विशाल ग्रन्थ रचा था जिसमें ६० प्रकरण थे। ३२ प्रकरण पूर्ण प्राकृतमण्डल में थे जो तन्त्र कहे जाते थे तथा २८ प्रकरण उत्तर वैकृतमण्डल में थे जो काण्ड कहलाते थे। चीनी परम्परा कहती है कि ६०००० श्लोक होने के कारण इसे षष्टितन्त्र कहा जाता था। श्री उदयवीर शास्त्री ने अपने सांख्यदर्शन का इतिहास (द्वितीय प्रकरण) में प्रबलप्रमाणों से सिद्ध किया है कि कपिलप्रणीत सांख्य-षडध्यायी ही षष्टितन्त्र है। इसमें जिन ६० पदार्थों का वर्णन है वे हैं—१० मौलिक पदार्थ, ५ विपर्यय, ९ तुष्टि, ८ सिद्धि तथा २८ अशक्तियाँ। इनमें ५० प्रत्यय सर्गों को सबने स्वीकार किया है किन्तु १० मौलिक अर्थों में मतभेद है। नारायण तीर्थ ने सांख्य सम्मत २५ तत्त्वों को ही १० मौलिक अर्थ माना है किन्तु अन्य आचार्यों ने—एकत्व, अर्थवत्त्व, पारार्थ्य, अन्यत्व, अकर्तृत्व, बहुत्व, अस्तित्व, वियोग, योग और स्थिति ये १० माने हैं।

कारिकाणामकाराद्यनुक्रमणी